भारत के ब्रह्मर्षि

प्रकाशक— भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस सिटी।

लेखक—

श्री नर्मदेश्वर शर्मा

(भूतपूर्व सम्पादक "विश्वमित्र"

कलकत्ता।

प्रकाशक—

भार्गव पुस्तकालय बनारस

प्रथमावृत्ति सन् १९३२ मूल्य ॥)

था।सम्मति का अभाव। इनके सम्बन्ध में हमारी जो कैफियत
है वह भी सुन लीजिये—हमें प्राचीन घटना प्रिय हैं। विश्वा
मित्र और वशिष्ठ का युद्ध पढ़ते, सुनते तथा कहते हमें अच्छा
मालूम होता है। विश्वामित्र के मुंह से जब हम सुनते हैं कि
ब्रह्मवल बल है और परोक्ष में वशिष्ठ के मुंह से जब विश्वामित्र
की प्रशंसा सुनते हैं तो वड़ा आनन्द आता है। इसी प्रकार
और प्राचीन बातों के सम्बन्ध में भी समझिये। हमारी समझ
है कि यह नवीनता उसी प्राचीनता से उत्पन्न हुई होनी
चाहिये। हमारी नवीनता का सम्बन्ध उसी प्राचीनता से होना
चाहिये। नवीन वही है जिसका कुछ प्राचीन है। प्राचीन के
बिना नवीन नहीं। अतएव हमारी यह इच्छा होती है कि बार
बार अपनी प्राचीनता की आवृत्ति करें। उसे इस नवीनता से
मिलावें, देखें इसमें प्राचीनता के कुछ उपादान हैं कि नहीं,
उसे लोगों को समझावें, सुनावें।

दूसरी बात यह है कि घटना प्राचीन है फिर उसके लिये
लिखने का नया ढंग काम में लाना तो अच्छा नहीं दीखता।
वाल्मीकि को मि० वाल्मीकि लिखना हमें नहीं भाता। आश्रमों
के स्थान में बंगलों का उल्लेख चाहे कोई करे पर हम तो
ऐसा दुस्साहस नहीं कर सकते।

तीसरी बात, हम भला आलोचना क्या करें और सम्मति
भी क्या दें। अगस्त्यजी ने बढ़ते हुए विन्ध्याचल को नवा

दिया, यह एक घटना है। इसकी आलोचना हम क्या करें और सम्मति भी क्या दें ? आलोचना करने वालों के लिये इस बात के जानने की जरूरत है कि अगस्त्य विन्ध्यघटना क्यों हुई। इन दोनों की शक्ति, इन दोनों के सम्बन्ध तथा उस समय की स्थिति आदि बातों का ज्ञान भी समालोचक को होना चाहिये पर दुःख है कि बहुत ढूँढ़ने पर भी अगस्त्य विन्ध्य घटना की ओर सामग्रियाँ हमें नहीं मिलीं। हम भला अगस्त्य की शक्तिका अन्दाजा कैसे लगा सकते हैं ? समुद्र सोखने वाले कहाँ अगस्त्य और कहाँ एक लांटे में घबराने वाले हम ! ऐसी स्थिति में हमने जो किया है वह आपके सामने है। यदि आपको प्राचीनता से प्रेम हो, यदि आप प्राचीन विचारों को पढ़ कर ऊबते न हों और यदि आप प्राचीनता को नवीनता का उत्पादक समझते हों तो एक बार इस पुस्तक को पढ़ देखिये।

—नर्मदेश्वर

विषय सूची

भारत के ब्रह्मर्षि ।

महर्षि कश्यप।

ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में एक महर्षि मरीचि भी थे। इनका विवाह कर्दम ऋषि की पुत्री सती कला से हुआ था। महर्षि कश्यप का जन्म इन्हीं के गर्भ से हुआ था। इनका ग्राम मेरु पर्वत पर था और वहाँ वे परमात्मा का चिन्तन किया करते थे।

ये बड़े विद्वान् और तपस्वी थे। तप के प्रभाव से इनकी तेजस्विता समस्त संसार में व्याप्त थी। इन्होंने प्रजापति की सत्रह कन्याओं-अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरसा, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा, तिमि, विनता, कद्रु, पतंगी और यामिनी से विवाह किया था। समस्त प्राणियों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई। देवता, मनुष्य, राक्षस आदि सभी इनकी ही संतान हैं। आदित्य तथा वामन रूपधारी भगवान विष्णु का भी अवतार अदिति के ही गर्भ से हुआ था। अदिति से देवता, दनु से दानव, काष्ठासे अश्व आदि, अरिष्टा से गन्धर्व, सुरसा से राक्षस, मुनि से अप्सरा, क्रोधवशा से सर्प, ताम्रा से श्येन और गीध आदि, सुरभि से गो और भैंसा, सरमा से

श्वापद, तिमि से जलचर, विनता से गरुड़ कद्रू से नाग, पतंगी से आकाशचारी पक्षी और यामिनी से कीड़े पतंग आदि पैदा हुए।

महर्षि कश्यप बड़े ही न्यायी तथा धर्मात्मा थे। अन्याय चाहे किसी का भी हो उन्हें सह्य न था। नीति विरुद्ध आचरण करने वालों के तो वे दुश्मन थे। आत्मीय से भी आत्मीय के नीति विरुद्ध आचरण का वे जोरों से विरोध करते थे। इनकी न्याय प्रियता के सम्बन्ध में एक बड़ी सुन्दर कहानी प्रचलित है।

अदिति के गर्भ से इन्द्र का जन्म हुआ था। वे इनके प्रिय पुत्र थे। एक समय देवराज इन्द्र बैठे कुछ काम कर रहे थे कि मय दानव आया और उनसे बोला—भगवान शंकर ने देवराज इन्द्र का पद आप को और विद्याधर चक्रवर्ती का पद सूर्यप्रभ को दिया है। अतः उन्होंने मुझे आप के पास यह संवाद सुनाने को भेजा है। यह खबर सुनते ही देवाधिदेव इन्द्र को बहुत क्रोध आया क्योंकि वे चाहते थे कि विद्याधर चक्रवर्ती का पद श्रुतशर्मा को दिया जाय और देवराज होने के नाते उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर भी लिया था। इस तरह अपने किये प्रबन्ध में परिवर्तन होता देख उन्हें बहुत क्रोध हो आया और वे क्रोध के वशीभूत हो मय दानव को ही मार डालने को दौड़े। महर्षि कश्यप वहीं पर मौजूद थे। उन्हें इन्द्र का यह दुराचार देखा न गया। भला केवल संवाद पहुँचाने वाले दानव का इसमें अपराध ही क्या था, वह तो शिव जी का

सन्देश मात्र कहने आया था। मय दानव का पक्ष न्याय का और उसका कोई दोष न होने के कारण महर्षि कश्यप तुरन्त उसके पक्ष में खड़े हो गये।

पिता को अपने विरुद्ध खड़ा देख इन्द्र को भय हुआ और वज्र को नीचे रख हाथ जोड़ कर उनसे बोले—पिताजी! आप को तो मालूम ही है कि विद्याधर चक्रवर्ती का पद मैंने अपने प्रिय पात्र श्रुतशर्मा को दिया है। अब यह मय दानव वह पद सूर्यप्रभ को दिलाने में सहायता देने आया है। ऐसी दशा में मैं भला कैसे चुप रह सकता हूँ। आप ही बतलायें, अब मुझे क्या करना चाहिये। राजनीति में तो मैंने यही पढ़ा है कि शत्रु का आचरण करने वालों का वध ही कर देना चाहिये। अतः मय दानव का वध करने से हमें पाप नहीं होता।

महर्षि कश्यप बोले—पुत्र इन्द्र! बात तुम्हारी भी बिलकुल ठीक है, पर यह भी तुम्हें मानना ही पड़ेगा कि जिस तरह विद्याधर चक्रवर्ती पद के लिये तुमने श्रुतशर्मा को चुना है उसी तरह भगवान शंकर ने भी उस पद के लिये अपने प्रिय पात्र सूर्यप्रभ को चुना है और उसे वह पद दिलाने के लिये मय दानव को उन्होंने तुम्हारे पास भेजा है। फिर यदि तुम्हें यह काम पसन्द नहीं है तो इसमें मय दानव पर क्रुद्ध होने की कौन सी बात है। तुम्हें इसके लिये अगर कुछ क्रोध हो तो उसका उत्तर शंकर से लेना चाहिये। दूत से इस तरह का बदला लेना किसी तरह भी उचित नहीं कहा जा सकता। इसके सिवा यदि यही विचार किया जाय कि उस चक्रवर्ती-

पद के लिये श्रुतशर्मा और सूर्यप्रभ में कौन सब से अधिक योग्य है तो भी यही मानना पड़ेगा कि सूर्यप्रभ ही उसके लिये अधिक योग्य है। इसके सिवा शिवजी का यह अत्यन्त प्रियभाजन भी है। ऐसी दशा में क्या तुम समझते हो कि शिव जी का प्रेम निष्फल जायगा और तुम्हारा किया प्रबन्ध ठीक रह सकेगा ? इसके सिवा एक बात और है जिस पर तुम्हें विचार करना चाहिये। वह यह है कि मय दानव का स्वतः इसमें कोई स्वार्थ नहीं है। वह तो शिवजी के कहने से तुम्हारे पास आया है। किसी के साथ यह कठोर व्यवहार नहीं करता न कभी नीति विरुद्ध आचरण ही करता है। ऐसी दशा में उस पर तुम्हें क्रोध करना उचित नहीं। तुम्हें यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि भूल कर भी कभी किसी के साथ तुमसे नीति विरुद्ध आचरण न हो जाये। क्योंकि तुम तो जानते ही हो कि नीति के विरुद्ध आचरण करने वालों का मैं कभी पक्ष समर्थन नहीं करता। अतः यदि इस समय तुमने कुछ भी और आगे कार्यवाही की जिससे मय दानव का कोई अनिष्ट हुआ तो मैं शाप देकर तुम्हें भस्म कर डालूँगा।

इसके बाद उन्होंने मय दानव से कहा—मय ! इन्द्र ने क्रोध करके तुम्हारे ऊपर वज्र उठाया पर तुमने बड़ी धीरता से उसे सहन किया और अपने उच्च विचार तथा नीतिमत्ता के कारण उसका सामना नहीं किया यह तुम्हारी बड़ी भारी नीति प्रियता है। तुम जानते हो मैं सदा नीतिमानों का पक्ष लिया करता हूँ। अतः इस समय मैं तुमपर तुम्हारे आचरण

के लिये प्रसन्न हूँ और तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि बुढ़ापा या मृत्यु का तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव न पड़ सकेगा न किसी हथियार से ही तुम्हारे शरीर को किसी तरह का अनिष्ट हो सकेगा। जिस सूर्यप्रभ को तुम सहायता देने आये हो उसे भी हराने की शक्ति किसी में न होगी और वह भी महा पराक्रमी हो जायगा। इसके सिवा मैं तुम्हें यह भी बतला देना चाहता हूँ कि यदि तुमपर किसी समय कोई विपत्ति आवे या किसी तरह की जरूरत हो तो मेरे पुत्र सुवास कुमार का स्मरण करना वह अवश्य तत्क्षण तुम्हारे सामने उपस्थित होकर तुम्हारी सहायता करेगा।

महर्षि कश्यप की नीति प्रियता के ऐसे और भी अनेकों उदाहरण शास्त्रों में मिलते हैं। संसार की इस महती सृष्टि के तो वे निर्माता थे ही तपोबल और ज्ञानबल में भी वे किसी से कम न थे। ये अपने समय के सब से बड़े लोकनेता थे और लोक का प्रवाह जिधर चाहा उधर मोड़ दिया। वे सप्तर्षियों में थे। इन्हीं की कृपा से नरवाहन दत्त को विद्याधर चक्रवर्ती का पद मिला। महर्षि कश्यप की बनाई एक कश्यप स्मृति प्रसिद्ध है।

कपिल मुनि ।

कपिल मुनि प्रजापति महात्मा कर्दम ऋषि के पुत्र थे। ये विष्णु के चौबीस अवतारों के अंतर्गत पांचवें अवतार समझे जाते हैं। स्वायम्भुव मुनि की पुत्री देवहूती के गर्भ से पुष्कर नगर के पास किसी स्थान में इनका जन्म हुआ था। ये महा मुनि सिद्ध नाम से देवताओं की गणना में गिने जाते हैं। ये बड़े तेजस्वी थे। परोपकार के लिये ही इनका अवतार हुआ था। इन्होंने मनुष्य तारक सांख्ययोग प्रकटकर पृथ्वी से अनेक अधर्मों का नाश किया। सांसारिक कामों और भोग विलासों में ये नाम मात्र भी चित्त नहीं लगाते थे। मंगलमय भगवत्स्वरुप कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूती को मुक्ति देने के लिये सरस्वती क्षेत्र में ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया जिसके द्वारा माता देवहूती ने मुक्ति प्राप्त की। वहां पर कपिल मुनि का आश्रम है। इसके थोड़े दिनों के बाद वे वहां से उत्तर दिशा में गंगा किनारे गये। वहां जाकर उन्होंने मनुष्यों का उद्धार करने के लिये प्रबल प्रयत्न किया। गंगा सागर से आते समय समुद्र ने उनकी पूजा कर बैठने के लिये आसन दिया था। वहीं पर बैठकर उन्हों ने योगाभ्यास किया था। कलियुगवासियों को उनका दर्शन कर मुक्तिपाने के लिये आज भी गंगासागर में कलकत्ते के पास कपिल मुनिका आश्रम वर्तमान है। उसकी यात्रा करने के निमित्त हजारों मनुष्य जाते हैं।

सगर राजा ने ९९ यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण किये थे। आखिरी अश्वमेध यज्ञ करने के समय इन्द्रने जाकर यज्ञ के अश्व को पाताल में उस जगह जहां महात्मा कपिलदेवजी समाधि में बैठे थे बांध दिया। उस अश्व की रखवाली करने वाले सगर के साठ हजार पुत्र जब उसे खोजते खोजते थक गये और उसका कोई पता न लगा सके तब अंत में वे निराश हो अपने पिता के पास गये। सगर नें उनको पाताल में भेजा। वहां जाकर उन लोगों ने घोड़े को कपिल मुनि जीके पीछे की ओर बंधा हुआ पाया। बस, तुरंतही वे लोग जोश में आकर बोले कि यह बैठा हुआ मुनि ही इस घोड़े का चोर होगा। ऐसा समझ कर सब के सब एक साथ चिल्ला उठे और कहने लगे कि यह घोड़ा हमारा है, इसे छोड़ दो। यह कहते हुए उन लोगों ने मुनि महाराज को मारना भी शुरु किया जिससे उनकी समाधि भंग हुई। उन्होंने आंखें खोलते ही उन्हें सामने देखा। महर्षि की क्रोधाग्नि से समस्त सगर पुत्र जलकर भस्म होगये। पीछे से खबर ले जाने के लिये एक भी नहीं बचा। बहुत समय बीतने पर भी घोड़े की खबर लेकर जब कोई नहीं लौटा तो इस देरी का कारण जानने के लिये सगर ने अंशुमान को पाताल में भेजा। इसने जाकर कपिल मुनि की स्तुति की जिससे घोड़ा उन्हें मिल गया। स्तुति से प्रसन्न होकर उन्हों ने यह भी कहा कि ये तेरे साठ हजार चाचा जो जलकर भस्म होगये हैं गंगा के स्पर्श से मुक्ति पावेंगे।

यह सुन कर मुनि की आज्ञा ले वह रवाना हुआ । कपिल देव पृथ्वी पर अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए सांख्य ज्ञान का उपदेश देते थे । अनेक समाजों में उन्होंने अपने विचारों को प्रगट कर वाद विवाद भी किया था ।

महर्षि कपिल के बनाये सांख्य दर्शन का नाम तत्वसमास है । वह बहुत ही छोटा है । सांख्य दर्शन के भाष्यकार विज्ञान भिज्ञु कहते हैं कि इस समय पाया जाने वाला सांख्य दर्शन भी महर्षि कपिल का ही बनाया है । आज कल पाये जाने वाले सांख्य दर्शन को सांख्य प्रवचन कहते हैं । इसका कारण यह है कि तत्व समास नामक ग्रन्थ का इसमें प्रवचन किया गया है और पातंजल दर्शन भी इसी कारण से प्रवचन कहा जाता है ।

सांख्य दर्शन में ईश्वर नहीं माना गया है । एक प्रकार से इस दर्शन में ईश्वर का खण्डन किया गया है । अतएव इस दर्शन का दूसरा नाम निरीश्वर सांख्य दर्शन भी है । विज्ञान भिज्ञु कहते हैं कि सूत्रकार का तात्पर्य ईश्वर खण्डन में नहीं है । उनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि ईश्वर के न मानने पर भी विवेक साज्ञात्कार के द्वारा मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं होती । यदि ईश्वर का खण्डन करना सूत्रधार का अभिप्राय होता तो वे 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र न बना कर 'ईश्वराभावात्' सूत्र बनाते । वाचस्पति मिश्र इस बात को नहीं मानते । उनके मत से सांख्य दर्शन निरीश्वर दर्शन है ।

महर्षि कपिल के शिष्य आसुरि और आसुरि के शिष्य पंचशिख आचार्य ने सांख्य दर्शन के बहुत से ग्रन्थ बनाये हैं। पर इस समय वे सब ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। उसमें बहुतों का इस समय पता मिलना भी कठिन हो गया है। ईश्वर कृष्ण ने 'सांख्य कारिका' नामक ग्रन्थ बनाया है। यह ग्रन्थ प्रामाणिक और उत्तम समझा जाता है। इस समय सांख्य दर्शन के जो सूत्र पाये जाते हैं उनकी अपेक्षा कारिका का आदर प्राचीन आचार्यों ने भी अधिक किया है। भगवान शंकराचार्य ने सांख्य दर्शन के मत खण्डन करने के समय सूत्र को छोड़ कर सांख्य कारिका ही उद्धृत की है। इससे यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि भगवान शंकराचार्य के मत से प्रचलित सांख्य सूत्रों की अपेक्षा सांख्य कारिका अधिक आदरणीय है।

प्रचलित सांख्य दर्शन में ५५६ सूत्र हैं। ये सूत्र ६ अध्यायों में बँटे हैं। पहले अध्याय में हेय, हेयहेतु, हान और हान हेतु का निरूपण है। दुःख हेय है। प्रकृति पुरुष का अविवेक अथवा अभेद ज्ञान ही दुःख का हेतु है दुःख की अत्यन्त निवृत्ति हान है। प्रकृति और प्रकृति के कार्य बुद्धि आदि से भिन्न हैं। इस प्रकार का ज्ञान अत्यन्त दुःख निवृत्ति का कारण है। प्रथम अध्याय में इन्हीं बातों का निर्णय किया गया है। दूसरे अध्याय में प्रकृति के सूक्ष्म कार्य, तीसरे अध्याय में प्रकृति के स्थूल कार्य, लिंग शरीर, स्थूल शरीर, अपर वैराग्य और पर वैराग्य का निरूपण किया गया है। चौथे अध्याय में शास्त्र प्रसिद्ध आख्यायिकाओं के द्वारा

विवेक ज्ञान के साधन का उपदेश दिया गया है। पांचवें अध्याय में अपने विरोधी मत का खण्डन किया गया है। और छठें अध्याय में इस शास्त्र के मुख्य विषयों की व्याख्या और उपसंहार किया गया है।

विज्ञान-भिक्षु कहते हैं कि श्रवण के बाद आत्मा के मनन के लिये महर्षि कपिल ने इस दर्शन का प्रणयन किया है। यह दर्शन श्रुति का विरोधी नहीं है। और इसमें श्रुति के अनुकूल उपपत्ति और युक्तियाँ दी गई हैं। ईश्वर कृष्ण की सांख्य कारिका, गौड़पादाचार्य कृत सांख्य शास्त्र का भाष्य, वाचस्पति मिश्र कृत सांख्य भाष्य आदि इस दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। और इस समय उपलब्ध होते हैं।

सांख्य दर्शन का पहला सूत्र है—'अथ त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः' न्याय दर्शन के समान सांख्य दर्शन भी त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ मानता है। दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। भीतरी कारणों से उत्पन्न दुःख को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। शरीर और इन्द्रियों के संघात को ही साधारण लोग आत्मा कहते हैं। इस संघात से उत्पन्न दुःख आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है। वह दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक। वात, पित्त और श्लेष्म की साम्यावस्था का नाम आरोग्य है। उनकी विषमता से ही रोग उत्पन्न होते हैं। इनकी विषमता के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों से जो दुःख उत्पन्न होता है वह शारीरिक है

काम, क्रोध, लोभ, मोह और मन आदि के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है वह मानस दुःख है। आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख बाहरी कारणों से उत्पन्न होते है। मनुष्य, पशु तथा स्थावर आदि के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है वह आधिभौतिक दुःख है क्योंकि ऐसे दुःख भूत नामक पदार्थों से ही उत्पन्न होते हैं। यक्ष, राक्षस आदि के लगने से जो दुःख होता है वह आधिदैविक दुःख है। इन तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मुक्ति है। विवेक ज्ञान त्रिविध दुःख निवृत्ति के अर्थ च मुक्ति के हेतु हैं। प्रकृति पुरुष के भेद ज्ञान को विवेक ज्ञान कहते हैं। विवेक ज्ञान प्राप्त कराने के लिये ही सांख्य दर्शन उत्पन्न हुआ है।

सांख्याचार्य कहते हैं—संसार में दुःख न होता अथवा उस दुःख को दूर करने की इच्छा लोगों में न होती तो कोई भी शास्त्रीय बातों के जानने का प्रयत्न न करता। पर बात ऐसी नहीं है। मनुष्य दुःखों का अनुभव करता है और दुःख को बुरा समझता है। ऐसा कोई भी नहीं है जो दुःख को अच्छा समझता हो। जो अनुकूल नहीं है उसके त्याग की इच्छा मनुष्यों में स्वभाव ही से उत्पन्न होती है। अन्य शास्त्र अथवा सांख्य दर्शन दुःखों को दूर करने के उपाय बतलाते हैं, इसी लिये लोग शास्त्र कथित बातों को जानने के लिये उत्सुक होते हैं और शास्त्र रचयिता के विषय में श्रद्धा प्रगट करते हैं। जनता जिस बात को जानना न चाहे यदि वक्ता वह बात कहे तो कोई भी उस वक्ता की बातें नहीं सुनता।

कोई कोई तो वैसे वक्ता को पागल समझ लेते हैं और उसकी उपेक्षा करते हैं। जिस दुःख से जनता नितान्त व्याकुल है और वह उस दुःख को दूर करना चाहती है शास्त्र उसी दुःख को दूर करने का उपाय बतलाते हैं। अतएव शास्त्र की बातें जनता को इष्ट हैं और आवश्यक भी हैं। ऐसी दशा में शास्त्रीय बातों को कौन मनुष्य ध्यान पूर्वक न सुनेगा। यह बात ठीक है कि शास्त्र में कहे उपायों से दुःख दूर करना होता है, पर वे उपाय हैं कठिन। शास्त्र में विवेक ज्ञान को दुःख दूर करने का हेतु बतलाया है। पर विवेक ज्ञान प्राप्त करना तो सीधी बात नहीं है। अनेक जन्मों के प्रयत्न से विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। यही बात भगवान ने गीता में कही है—'बहूनांजन्म-नामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।'

पर लौकिक उपायों से इन दुःखों को दूर करना आसान है। अच्छे वैद्य की दवा से शरीर सम्बन्धी रोग दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार मन प्रसन्न करने वाले उपायों द्वारा मानसिक रोग दूर होते हैं, नीति शास्त्र कुशलता तथा निरापद अच्छे स्थानों में रहने से आधिभौतिक दुःख और मणि, मंत्र आदि के द्वारा आधिदैविक दुःख भी दूर किये जा सकते हैं और वह भी थोड़े परिश्रम से। ऐसे दुःख दूर करने के सरल उपायों के रहते शास्त्रोपदिष्ट कठिन उपायों के करने लिये कौन तैयार होगा। संस्कृत की एक कहावत है-अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्। अर्थात् यदि घरके कोने में ही मधु मिल जाय तो उसके लिये

कोई पर्वत पर क्यों जायगा। यदि अनायासही इष्ट की सिद्धि हो तो उसके लिये कौन मनुष्य प्रयत्न करना पसन्द करेगा। यद्यपि आपत्ति बड़ी मजबूत मालूम पड़ती है, पर विचार करने से इसका पोलापन अनायास ही समझ में आ जाता है। देखा गया है कि पथ्य पूर्वक औषध सेवन करने पर तथा मन प्रसन्न करने वाले उपायों और मणि, मंत्र आदि के द्वारा भी आध्यात्मिक आदि दुःख दूर नहीं होते। इससे इस बात के मान लेने में सन्देह का कारण नहीं है कि इन उपायों से भी दुःख दूर होते हैं। पर इस बात का निश्चय नहीं है कि इनके द्वारा अवश्य ही दुःख दूर होते हैं। दूसरी बात यह है कि कभी कभी इनके द्वारा दुःखों के दूर होने पर वे पुनः हो जाते हैं। पर विवेक ज्ञान के लिये यह बात नहीं है। उसके द्वारा दुःख अवश्य ही दूर होते हैं और इस तरह एक बार दूर होने पर वे पुनः उत्पन्न नहीं होते यह भी निश्चित है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान ही दुःखों का कारण है। वह विवेक के द्वारा नष्ट हो जाता है। फिर कारण के नष्ट होने पर कार्य के उत्पन्न होने की संभावना कहाँ।

यज्ञ आदि करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और दुःख रहित सुखकाही नाम स्वर्ग है। फिर जब इस प्रकार थोड़े कष्ट से दुःख निवृत्ति हो रही है तब अनेक जन्म साध्य विवेक ज्ञान के लिये प्रयत्न करना अनर्थक है। यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वर्ग प्राप्ति के द्वारा जो दुःखों का नाश होता है कुछ काल के लिये उससे दुःख का अत्यन्त विच्छेद

नहीं होता, क्यों कि यज्ञ में पशु आदि की हिंसा करनी पड़ती है। इस दर्शन के मत से श्रुति कथित हिंसा भी पाप है। यज्ञ के द्वारा जिस प्रकार पुण्य होता है उसी प्रकार यज्ञीय हिंसा जनित पाप भी होता है। यह बात दूसरी है कि पाप की मात्रा बहुत ही कम होती है पर पुण्य के साथ पाप भी होता है, इसमें सन्देह नहीं। इस कारण यज्ञ के द्वारा जो स्वर्ग प्राप्त होता है उसमें सुखके साथ दुःख की मात्रा थोड़ी ही सही पर रहती है अवश्य। पर उसका अनुभव स्वर्गीय व्यक्ति को इस कारण नहीं होता कि वे सुख की अधिकतासे मुग्ध होते हैं, सुख राशि में थोड़ा सा दुःख ऐसा मिल जाता है कि उसका भान ही नहीं होता।

सांख्य धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार ब्रह्मविद्या के द्वारा सुख दुःख की निवृत्ति होती है। चित्त ही जीव के वन्धन तथा मुक्ति का कारण है। चित्त के ही विषयों में आशक्त होने के कारण जीव का वन्धन होता है और ब्रह्म में संलग्न होने से मुक्ति प्राप्त होती है। शरीर में आकाश, अग्नि, जल और पृथिव्यादि तत्वों के स्वरूपों को जानकर प्राण, अपान की गति रोकने से असंग चैतन्यरूप आत्मा अपनी स्वयं प्रकाशमान ज्योति से प्रकाशमान होता है। तब यह देहरूप सम्पूर्ण इन्द्रियों का व्यवहार मिथ्या जान पड़ता है। सांख्य ज्ञान में चौवीस तत्वों के ज्ञान से मोक्ष माना गया है। ज्ञानरूपी आत्मा चैतन्य है। सुख, दुःखादि रूप बनाने वाली तो तीन गुणवाली प्रकृति है। प्रकृति जड़ है और भोक्तारूप आत्मा

पुरुष चेतन है। दोनों साथ में रहते हैं। प्रकृति रूपान्तर को प्राप्त होती है। उस प्रकार पुरुष रुपान्तर को प्राप्त नहीं होता। जन्म मरण रूपी रोग को दूर करने के लिये सूक्ष्म (लिङ्ग) देह का सम्बन्ध छोड़ देने पर मुक्ति मिल सकती है। अनेक प्रकार के सुख दुःख प्रकृति के धर्म हैं। और आत्मा स्वयं अकर्त्ता है इस प्रकार आत्मपुरुष को जब ज्ञान होता है तब मोक्ष मिलता है। आत्मसम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञानों से प्रकृति का क्षय होता है तब प्रकृति का बन्धन टूटने पर शुद्ध चैतन्य प्रतीत होता है और तभी मोक्ष होता है।

कपिलमुनि का उपदेश ज्ञानप्रद है। इस बात को जानने के लिये सज्जनों को प्रयत्न करना चाहिये। यह महात्मा मुनि तपोबल से निरहंकार अर्थात देहादि में अहं बुद्धि शून्य अखण्ड भक्तिद्वारा ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हुए हैं। भगवान कपिल अमर हैं। उनका भौतिक शरीर नष्ट हो गया फिर भी वे अमर हैं और रहेंगे। उन्होंने संसार में-भारत में सबसे पहले दार्शनिक ज्योति प्रकाशित की है। संसार के दुःखी प्राणियों पर सबसे पहले उन्होंनें दया की। सबसे पहले उन्होंने ही तीन प्रकार के दुःखों को सदा के लिये दूर करने का उपाय बतलाया। इस प्रकार अनुपम उपकार करने वाला क्या अमर नहीं है ? क्या मानव जाति अपने इस प्रथम दार्शनिक को भूल जायगी ? भूलना नहीं चाहिये। यदि वह भूले तो स्वयं उसकी आत्मा अपने को कृतघ्न समझेगी।

६

गुरु दत्तात्रेय।

ये परम ब्रह्मनिष्ठ अवधूत योगी अत्रिऋषि के पुत्र थे। इनकी माता का नाम अनुसूया था। इन परम पवित्र सती के दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा ये तीन पुत्र थे। विष्णु, महादेव और ब्रह्मा इन तीनों देवताओं ने मिलकर उनके गर्भ से अवतार धारण किया था। यह अवतार विष्णु भगवान के चौबीस अवतारों के अंतर्गत गिना जाता है। वेद का ज्ञान और ज्ञानकाण्ड के द्वारा गुरु ज्ञान का उपदेश देने के लिये यह अवतार त्रेतायुग में हुआ था। वे महा विद्वान, प्रवीण और सुरुप थे। पट्शास्त्रों का अध्ययन कर उन शास्त्रों के सिद्धान्तों के याथार्थ्य का निश्चय किया था। उनमें से वेदान्त शास्त्र को उन्होंने प्रधान माना है। ये अवधूत योगी, त्रिकालदर्शी, समर्थ, ज्ञानी, निर्विकारी और अमृतवद्भाषण करने वाले थे। विषय भोग, स्त्री पुत्रादि से रहित होकर ये सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त हुए। विद्वान होने पर भी बालोन्मत्त, जड़, और पिशाच के समान ब्रह्मध्यान में मग्न होकर संसार में भ्रमण करते थे। योगक्रिया में इन्होंने अनेक प्रकार की वृद्धि तथा सुधार किया है। उसमें सर्वदर्शी किस प्रकार बना जा सकता है, जगत् रचना तथा अनेक प्रकार के शरीरों की रचना किस प्रकार से जाननी चाहिये—इत्यादि ज्ञान सम्बन्धी बातों का निश्चय किया है। इन्होंने अपनी योग क्रिया से अनेक चमत्कार कृत्य किये हैं। जिसमें इन्होंने अन्धे को आँख, लंगड़े को पांव दिया

और मृतक को जीवित किया है। इन्होंने अलर्क, प्रह्लाद, सहस्त्रार्जुन और यदु को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। इस संसार रूपी माया के जाल से विमुक्त होने के लिये इन्होंने प्रथम अपनी बुद्धि से ही निश्चित किये हुए २४ गुरुओं को ग्रहण कर अपने दोषों का त्याग किया था। उसी ज्ञान का उपदेश इन्होंने गोदावरी नदी के तट पर राजा यदु को किया था जिसका सारांश नीचे दिया जाता है:—

दत्तात्रेय के चौबीस गुरू।

१-पृथ्वी-पृथ्वी को मनुष्य तथा अन्य प्राणी कितना ही दबाते हुए दुष्कर्म करते हैं तथापि वह अपने नियम से चलायमान नहीं होती। इसी प्रकार साधु पुरुषों को भी कोई कितना ही दबावे, उसे कितने ही कष्ट सहन करने पड़ें, परन्तु वह तब भी अपने नियम अथवा कर्तव्य से कदापि चलायमान नहीं होते। यह गुण उन्होंने पृथ्वी से सीखा था।

पर्वत-पर्वत भी पृथ्वी रूप है, वह अचल है। झाड़, झंखाड़ और झरने इत्यादि उत्पन्न करने की उसकी सम्पूर्ण क्रियायें निरन्तर परोपकार के लिये ही हुआ करती हैं। उसी प्रकार साधु पुरुष को भी अपनी समस्त क्रियाएँ और जीवन भी परोपकारार्थ ही समझना चाहिये।

वृक्ष-वृक्ष भी पृथ्वी की तरह है। यह निरंतर पराधीन और उसके समस्त फल फूल परोपकार के लिये ही हैं। चाहे उसे कोई काट डाले या समूल उखाड़ ले जाय उसे यह सब स्वीकार है। उसी प्रकार साधु पुरुष को भी पराधीन रहकर

सब बात स्वीकार करनी चाहिये । चाहे उसे कोई अपने काम के लिये मार डाले अथवा उठा ले जाय ।

२-वायु-वायु जल में रहने से प्रसन्न नहीं और अग्नि में रहने से नाराज नहीं होता । उसी प्रकार योगी पुरुष को भी शीत, उष्णादिक-अनेक धर्म वाले विषयों में अनुकूलता या प्रतिकूलता होने पर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होना चाहिये । वायु जिस प्रकार सुगन्धित या दुर्गन्धित मालूम होता है किन्तु वास्तव में वह न तो सुगन्धित है और न दुर्गन्धित ही है । उसी प्रकार आत्मा भी पृथिव्यादि के विकाररूप देहादिक के साथ रहने से जन्म-मरणादियुक्त प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में न वह जन्म लेता है और न मरता ही है । यह उन्होंने वायु से सीखा था ।

प्राण-प्राण भी वायुरूप ही है । वह जिस प्रकार आहार मिलने से सन्तुष्ट होता है किन्तु रूप, रसादिक इन्द्रियों के विषयों की अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार योगी पुरुष को भी आहार प्राप्त होने से सन्तोष रखना चाहिये । किन्तु अच्छे बुरे आहार की अथवा दूसरे विषयों की इच्छा नहीं रखनी चाहिये । केवल शरीर के निर्वाह के लिये जैसा आहार मिल जाय वैसा ही खा लेना चाहिये ।

३-आकाश-यद्यपि आकाश सर्व व्यापी है, पर तब भी उसको किसी का साथ नहीं है या किसी पदार्थ से उसका माप भी नहीं हो सकता उसी प्रकार देह के अन्दर होने पर भी योगी को ब्रह्मरुप की भावना से अपनी आत्माको स्थावर

जंगमों में व्याप्त समझ कर, उस आत्मा का देहादिकसे सम्बन्ध नहीं है या किसी पदार्थ से उसका माप नहीं हो सकता ऐसा समझना चाहिये । और भी, आकाश को जिस प्रकार वायु से प्रेरित आने जाने वाले मेघ अथवा धूलि आदि पदार्थों का स्पर्श नहीं होता उसी प्रकार काल से उत्पन्न पृथ्वी, जल और देहादिक पदार्थ जो कि शरीर में आया जाया करते हैं और उनका स्पर्श अपने को नहीं होता, इसी प्रकार योगी जनको जानना चाहिये । यह शिक्षा उन्होंने आकाश से ग्रहण की ।

४-जल-जल मनुष्यों को स्वच्छ, मधुर और पवित्र करने वाला है । इसी प्रकार योगी पुरुष को भी स्वच्छ और शुद्ध रहकर मधुर बोलना और दूसरों को उपदेश देकर उसे भी शुद्ध करना चाहिये, यह शिक्षा जल से ग्रहण की ।

५-अग्नि जिस प्रकार तेजस्वी, प्रताप से दीप्तिमान, सम्पूर्ण वस्तुओं को भस्म कर खा जाने पर भी दोष से रहित रहती है, कहीं गुप्त रीति से और कहीं प्रकट रीति से रहकर और कल्याण की इच्छा रखने वालों से उपासना करने योग्य है, हवि देने वालों के भूत और भविष्य के पापों को भस्म कर दूसरों की इच्छा से सब जगह खा लेती है उसी प्रकार योगी पुरुष को भी कहीं गुप्त कहीं प्रकट रहना और कल्याण चाहने वाले मनुष्यों से उपासना करने योग्य रहना चाहिये और अन्न देनेवालों के भूत, भविष्य के सम्पूर्ण पापों को जला डालना चाहिये और, अग्नि जिस प्रकार काष्ठ में रहने के

कारण और काष्ठ अनेक प्रकार के छोटे बड़े होने से उनमें रहने वाली अग्नि छोटी बड़ी नहीं कही जा सकती, उसी प्रकार आत्मा भी अविद्या के कारण ऊँच या नीच देहों में रहने से ऊँच या नीच मालूम होती है किन्तु वास्तव में वह आत्मा ऊँच या नीच नहीं है। इसी प्रकार योगीजन को विचारना चाहिये। अग्नि की ज्वाला जिस प्रकार क्षण क्षण में नई उत्पन्न होती है और क्षण क्षण में नाश होती है किन्तु वह हम लोगों के जानने में नहीं आती, उसी प्रकार अवि-च्छिन्न देह वाले काल से आत्मा का शरीर भी क्षण भर में नाश होता है और क्षण में ही नया उत्पन्न होता है लेकिन हम लोगों के जानने में नहीं आता। इस लिये शरीर को क्षणभंगुर समझ कर योगी पुरुष को वैराग्य रखना चाहिये। यह शिक्षा अग्नि से उन्होंने ग्रहण की।

६—चन्द्र की प्रकाशरूप कला जिस प्रकार घटती और बढ़ती है किन्तु चन्द्रमा में उससे कुछ भी विकार नहीं होता उसी प्रकार जन्म से मरण तक के ६ विकार भी गुप्त रीति से बीतते हुए काल के वश से शरीर कोही होते हैं किन्तु आत्मा को ये विकार नहीं प्राप्त होते। यह शिक्षा चन्द्रमा से उन्हों ने ग्रहण की।

७—जिस प्रकार सूर्य आठ महीने तक अपनी किरणों के द्वारा जल को पृथ्वी से ग्रहण करके वर्षा ऋतु आने पर पुनः किरणों द्वारा त्याग देता है और उसकी प्राप्ति या त्याग के विषय में अभिनिवेश नहीं करता, उसी प्रकार योगी पुरुष को

भी चाहिये कि वह अपेक्षित पदार्थों को इन्द्रियां द्वारा ग्रहण करा लिया करे और किसी के मांगने पर उसे दे भी दे और उन पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिये। किंतु उसमें-यह मुझे प्राप्त हुआ था, यह मैंने दे दिया-ऐसा अभिनिवेश नहीं करना चाहिये। सूर्य एकही है किंतु उसके प्रतिबिम्ब जल-पात्र या तालाब आदि में पड़ने से मोटी बुद्धिवालों को अनेक सूर्य मालुम पड़ते हैं पर वास्तव में वह वैसा नहीं है वैसेही परमात्मा का प्रकाश सम्पूर्ण वस्तुओं में होने पर भी वह एक ही है, यह शिक्षा सूर्य से ग्रहण की।

८-होला नामक एक पक्षी अपनी स्त्री होली के प्रेम में फँसा हुआ था। होली के बच्चे हुए। एक समय वे दोनों बच्चों के वास्ते चारा लेने गये थे उसी समय एक शिकारी ने आकर उनके बच्चों को जाल में फँसा लिया। होला तथा होली ने आकर रोना विलपना शुरू किया। बच्चे जाल में तड़प तड़प कर चिल्लाने लगे। होली को बहुत दुःख हुआ। वह भी चाँ चाँ करती हुई उनके पास जा पहुँची। प्रेम से आतुर और ईश्वरीय माया से व्यग्र होली बच्चों को जाल में फँसा देख कर भी स्मृति भूल जाने से जाल में जा फँसी। यह देख होला भी निराश हुआ और प्राणों से भी अधिक बच्चों और स्त्री को फँसा देख विलाप करता हुआ वहाँ जा पहुँचा और मृत्यु का ग्रास बन गया। क्रूर शिकारी ने घर जाकर सबों को मार डाला। इस प्रकार जो कुटुम्बी मनुष्य अशान्त चित्त वाला सुख दुःखादिक पदार्थों में लगा हुआ

कुटुम्ब का ही सिर्फ पोषण किया करता है वह मनुष्य इस होले के समान परिवार सहित दुखी होता है। घर की आसक्ति पशु पक्षियों को भी दुखदायी होती है तब मनुष्यों को अनर्थकारी होने में क्या सन्देह है ? इसलिये जो मनुष्य होले के समान घर में आसक्त होकर रहता है उसको विद्वान लोग ऊपर चढ़ कर गिरा हुआ समझते हैं ।

९—अजगर जिस प्रकार उद्यम रहित होकर अच्छा, बुरा, कम या ज्यादा जो कुछ ईश्वर की इच्छा से प्राप्त हो जाता है उसी को खाकर पड़ा रहता है वैसे ही योगीजन को भी उद्यम रहित होकर जो कुछ भला, बुरा, थोड़ा या अधिक मिल जाय उसको खाकर निर्वाह करना चाहिये। ईश्वरेच्छा से जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी को खाकर प्रसन्न रहना चाहिये। यह शिक्षा उन्होंने अजगर से प्राप्त की।

१०—समुद्र जिस तरह ऊपर से प्रसन्न अन्दर से गम्भीर और अंत या आदि रहित है उसी प्रकार योगी पुरुष को भी बाहर से प्रसन्न अन्दर से गम्भीर, अंत या पार रहित और राग द्वेषादिक से निर्लेप, निर्विकार रहना चाहिये। जिस तरह वर्षा ऋतु में अनेक नदियों के मिलने से ही न तो उसमें बाढ़ आती है और न ग्रीष्म ऋतु में वह सूखता ही है वैसेही ज्ञानियों को भी वैभवादिक से प्रसन्न नहीं होना चाहिये और न उनके न मिलने से दुःखी ही होना चाहिये। अर्थात् लाभ होने से न तो हर्ष मानना चाहिये न हानि होने से शोक मानना चाहिये।

११—पतंग जिस तरह लालच में पड़ दीपक में जा गिरता है वैसे ही अजितेन्द्रिय पुरुष भी ईश्वरीय मायारूप स्त्री के रूप को देख उसके विलासों में ललचा कर परा मोह में मोहित हो जाता है। माया स्वरूप स्त्री, सुवर्ण, आभूषण और वस्त्रादि में उपभोग बुद्धि से ललचा कर अन्धे के समान मूर्ख मनुष्य पतंग के समान नाश को प्राप्त होता है। इस कारण ज्ञानी पुरुष को स्त्री, पुत्र, धनादि के मोह में नहीं फँसना चाहिये। यह शिक्षा उन्होंने पतंग से ली।

१२—भ्रमर जिस प्रकार सुगन्ध के लोभ से एक ही कमल में लुब्ध हो जाता है और सूर्यास्त होने पर उसी में बन्द हो जाता है, उसी प्रकार योगी को अच्छा पदार्थ मिलने पर एक ही जगह में नहीं रहना चाहिये। क्योंकि ऐसा न करने से वहाँ के प्रेम में वह बँध जाता है, इसलिये योगी पुरुष को चाहिये कि किसी एक ही गृहस्थ को न सता कर भ्रमण करते हुए जो कुछ थोड़ा बहुत मिल जाय उसे खाकर शरीर यात्रा का निर्वाह करे न कि भ्रमर की तरह एक ही स्थान में अति प्रेम वश हो बँध जाय। भ्रमर जिस प्रकार छोटे बड़े पुष्पों में से सार वस्तु को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार योगी को भी छोटे बड़े शास्त्रों में से विचार पूर्वक सार वस्तु को ग्रहण करना चाहिये।

१३—मधुमक्खी अनेक यत्न कर मधु संचय करती पर उसे वहीं छोड़ कर मर जाती है। इस कारण योगी को चाहिये कि वह जितना अपने हाथ में आ सके उतने से अपने

पेट का पालन करे और उसके लिये दूसरा पात्र न रक्खे। पेट को ही पात्र समझे, सायंकाल या आगामी दिन के लिये अन्न संग्रह न करे, ऐसा करने से मधुमक्खी की तरह अन्न के साथ ही वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है।

१४—हाथी जिस प्रकार सामने बनावटी कागज की हथिनी देख उसके मोह से गढ्ढे में पड़ कर जाल में फँस जाता है वैसे ही पुरुष भी स्त्री के अंगों के स्पर्श की इच्छा से उसमें आसक्त हो जाता है। इसलिये योगी को स्त्री तो क्या कठपुतली को भी न देखना चाहिये।

१५—भील जिस तरह मधुमक्खी द्वारा अनेक संकटों को सहन करके पेड़ कन्दरा आदि स्थानों में एकत्रित मधु को भोगता है वैसे ही अनेक संकटों को सहन कर लोभी मनुष्य के द्वारा एकत्रित किया हुआ धन गुप्त स्थानों से भी ले जाकर बलवान पुरुष भोगते हैं। इसलिये योगी जन को अधिक पदार्थ संग्रह नहीं करना चाहिये।

१६—हरिण जिस तरह शिकारी का गाना सुन कर मोहित हो जाल में फँस जाता है उसी तरह यदि योगीजन भी विषय सम्बन्धी गायन सुनें तो मोह में पड़ सकते हैं। इस कारण सन्यासी को कभी विषय सम्बन्धी गान नहीं सुनना चाहिये। मृगी के पुत्र ऋष्य श्रृङ्ग ऋषि वेश्याओं के विषय सम्बन्धी नाच बाजे, गान आदि सुन कर पुतले के समान उनके अधीन हो गये थे।

१७—मछली जिस तरह जीभ के लालच से काँटे से विंध कर मृत्यु को प्राप्त होती है वैसे ही रस मोही देहाभिमानी मनुष्य भी अत्यन्त कष्टदायी जीभ की लालच से मृत्यु को प्राप्त होता है। विद्वान पुरुष आहार को त्याग कर दूसरी इन्द्रियों को तुरन्त ही जीत लेते हैं किन्तु उनसे जीभ नहीं जीती जा सकती। कारण यह है कि आहार के त्याग से जीभ की लालच और ज्यादा बढ़ती है और सब इन्द्रियों को जीत लेने पर भी जब तक जीभ न जीती जायगी तब तक मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। और इन्द्रियों को जीतने से जीभ का जीतना कठिन है। इस कारण इसमें आसक्ति न रख कर योगी पुरुष को चाहिये कि वह अन्न को औषध के समान समझ कर खाय। यह ज्ञान मछली से उन्होंने ग्रहण किया।

१८—पिंगला नामकी एक वेश्या विदेह राजा के नगर में रहती थी वह एक दिन पुरुष को अपने रतिस्थान में लाने की लालच से उत्तम उत्तम वस्त्र भूषणादिक धारण कर सायंकाल अपने दर्वाजे पर बैठी थी और आये हुए पुरुष के चले जाने पर "अभी और कोई विशेष धन देने वाला धनी मनुष्य मेरे पास आवेगा" इस दुष्ट आशा से बैठी थी। कभी भीतर जाय कभी बाहर आकर दर्वाजे पर बैठे, इस प्रकार आशा ही आशा में उसे नींद भी न आयी जिससे उसका मुँह सूख गया। निराश होकर उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और मनमें आया कि 'अब यह काम बुरा है'। वह सोचने लगी-अहो!

मूर्खता के कारण मैं मनको न जीत कर तुच्छ पुरुषों से काम की इच्छा रखती हूं। धन और आनन्द के दाता परमेश्वर को छोड़कर कामना को न देनेवाले पुरुष की इच्छा रखती हूं। पुरुष का शरीर हाड़, मांस, मल, मूत्र से भरा हुआ और चमड़े से मढ़ा हुआ है। उसकी मैं उपासना करती हूं। यह बड़ी भारी मूर्खता की बात है। अब मैं सब दुष्ट आशाओं को छोड़कर केवल ईश्वर ही की शरण लेती हूं। उसके बिना कौन इस संसार के विषयों में से अलग कर सद्गति दे सकता है? इस प्रकार निश्चय कर पिंगला विषय वासना को छोड़ शांति धारण कर सो गयी। इसका सारांश यह हुआ कि आशा का रखना ही बड़ा भारी दुःख है। आशा का त्याग करनाही महा सुख है। इस प्रकार पिंगलाने जब विषय एवं धन को आशा छोड़ दी तब ही उसे नींद आयी।

१९—चील अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लेकर जारही थी, इतने में उसे किसी दूसरे बलवान पक्षी ने देखा और मांस छीनने के लिये उसे मारने लगा। जब उस चीलने मांस छोड़ दिया तभी उसे शांति मिली। इससे यह शिक्षा मिली कि जो अत्यन्त प्रिय वस्तु हैं उनका परिग्रह करनाही दुःखदायी है। यह विचार कर जो मनुष्य परिग्रह का त्याग करता है वही सुखी होता है।

२०—बालक के लिये जिस प्रकार मान या अपमान कोई वस्तु नहीं न किसी प्रकार की चिंता या

कामादिक ही उसे सताता है उसी तरह योगी को भी प्रसन्न रहना चाहिये।

२१—कुमारी कन्या–एक समय एक कुमारी कन्या अपने घर में अकेली थी। उसी समय उसके यहां पाहुन आये। उनके लिये वह कन्या छिप कर एकांत मकान में धान कूटने लगी। वहां उसके हाथ की चूड़ियां वजने लगीं तब उसने एक एक करके सब चूड़ियां निकाल दीं,केवल प्रत्येक हाथ में एक एक चूड़ी रहने दी जिससे चूड़ियों का चटकना वन्द होगया। इससे यह शिक्षा मिली कि अकेला रहकर ईश्वर का भजन करने से कोई पट्राग नहीं होता।

२२—वाण वनाने वाला वाण वनाने में इतना लीन था कि उसके पास से होकर वाजे गाजे के साथ राजा की सवारी निकल गयी और उसे पता भी न चला। वैसे ही योगी मनुष्य को भी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वशमें कर एकाग्रचित्त हो. ईश्वर का स्मरण करना चाहिये।

२३—सर्प जिस प्रकार अकेला घूमता है, अपने रहने के लिये कोई खास स्थान नहीं रखता, सचेत रहता है, एकांत वास करता है, अपनी गति से न विषधर या विषरहित ही मालूम पड़ता है और अल्प भाषण करता है वैसे ही योगी को करना चाहिये। उसी की तरह योगी जनको दूसरों के वनाये स्थानादिक में रहकर समय विताना चाहिये।

२४—मकड़ी जिस तरह अपने हृदय से निकली लार को मुंह में वढ़ाती है और उससे मनोरंजन करके पुनः उसे

निगल जाती है और उसके लिये किसी दूसरे साधन की जरूरत नहीं पड़ती उसी प्रकार ईश्वर भी जगत की सृष्टि करता और उसमें विहार कर पुनः अपने ही में लीन कर लेता है और किसी दूसरे साधन की उसे अपेक्षा नहीं रहती। यह शिक्षा उन्होंने मकड़ी से ली। भ्रमरी जब किसी कीड़े को पकड़ती है तब वह भयसे भ्रमरी के ध्यान में लीन हो जाता है और उसी का स्वरूप बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्नेह, द्वेष तथा भय से जिन वस्तुओं में अपने मनको एकाग्र करती है उन वस्तुओं का रुप वह स्वयं बन जाती है। जब कीड़ा भ्रमरी के भय से भ्रमरी बन जाता है तब मनुष्य ध्यान के द्वारा ईश्वर का रूप बन जाय इसमें आश्चर्य ही क्या है? गुरु दत्तात्रेय का यही शिक्षा का ढंग है। इनका एक सम्प्रदाय भी प्रचलित है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी दक्षिण में बहुत हैं।

देवगुरु बृहस्पति ।

बृहस्पति देवगुरु के नाम से प्रसिद्ध हैं। देवराज इन्द्र इनके शिष्य हैं। इन के दो जन्म हुए थे—पहला जन्म स्वायम्भुव मन्वन्तर में हुआ था। उस समय इनके पिता का नाम अंगिरा ऋषि और श्रद्धा इनकी माता का नाम था। इनके दो भाई—उतथ्य और सम्पकर्म—तथा चार बहिनें थीं। दूसरा जन्म वैवस्वत मन्वन्तर में हुआ था। इस जन्म में इनके पिता का नाम अंगिरा ऋषि और माता का नाम स्वरूपा था। इनके आठ भाई थे। शुभा और तारा नामक दो स्त्रियाँ थीं। शुभा से सात कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं। तारा से कच और विश्वजित् आदि सात लड़के तथा एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी। देवर्षि शास्त्र और शस्त्र विद्याओं में निपुण थे। वे तेजस्वी, बुद्धिमान, सुन्दर, उत्साही, विद्वान और दाता थे। सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार की नीतियों के उत्कट ज्ञाता थे। विद्याभ्यासी अनेक शिष्य सदा इनके पास रहते थे।

देवता और दैत्य दोनों का परस्पर विरोध प्रसिद्ध है। देवता तरह तरह से दैत्यों का दमन करने के लिये सदा उद्योग करते रहते थे। देवताओं के गुरू बृहस्पति और दैत्यों के गुरू शुक्राचार्य थे। दोनों ही अपने शिष्यों की सहायता करते थे। इसी कारण इन लोगों में सदा लाग डाँट रहा करती थी। शुक्र ने शुक्रनीति नामक ग्रन्थ बनाया था और बृहस्पति ने बृहस्पति स्मृति। बृहस्पति की नीतिकारों में बड़ी

प्रतिष्ठा है। देवताओं के जितने कठिन कठिन काम हुए हैं उन सब में बृहस्पति का सदा हाथ रहा करता था। जब जब देवताओं पर दुःख आया, जब जब देवगण दानवों के भय से व्याकुल हुए तब तब बृहस्पति ने उनको सहायता की। बृहस्पति ने उन्हें मन्त्र बतलाया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के यहाँ जब जब देवता गण अपनी दुःख गाथा सुनाने गये तब तब उनके साथ बृहस्पति गये। बृहस्पति की जीवनी लिखना देव राज्य का एक प्रकार का छोटा मोटा इतिहास लिखना है। इन छोटी छोटी जीवनियों के संग्रह में बृहस्पति की जीवनी हम क्या दे सकते हैं फिर भी इनके विषय में एक प्रसिद्ध घटना का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

कहा जाता है कि एक बार बृहस्पति देवताओं से अप्रसन्न होगये और उन्होंने नास्तिक मत का प्रचार करना प्रारंभ किया। उनके द्वारा प्रचारित नास्तिक मत चार्वाक सिद्धांत के नाम से प्रचलित है। इस विषय की यह कथा प्रसिद्ध है। देवता और असुरों की तो पारस्परिक शत्रुता प्रसिद्ध ही है। असुर कैलाशवासी शिवके भक्त थे और शिव के बनाये तंत्र ग्रन्थों के अनुसार आचरण करते थे। एक बार असुर त्रिविष्टप में आये। कुछ लोग वर्तमान तिब्बत को त्रिविष्टप कहते है। वहां से वे कैलाश पर शिवजी के पास गये। वहाँ श्रद्धा भक्ति के साथ उन लोगों ने शिवजी को पूजा की। असुरों की आराधनासे शिवजी प्रसन्न हुए। शिवजी ने असुरों से वर मांगने के लिये कहा। असुरों ने हाथ जोड़ कर कहा—

महाराज ! देवताओं के अत्याचारों के कारण हम लोग बहुत दुःखी हैं। देवताओं का शिल्पी विश्वकर्मा अनेक विमान बना कर उन्हें देता है और वे विमान आकाशमें उड़ने वाले होते हैं। देवगण उन विमानों पर चढ़कर आकाश में उड़ाकरते हैं और असुरों का विनाश करते हैं। अब देवताओं के इस अत्याचार से रक्षित होने का त्रिलोक में कोई भी स्थान हम लोगों के लिये नहीं बचा है। अतएव हम लोग अपनी रक्षा के लिये आप से प्रार्थना करते हैं। सोना, चांदी और लोहा के तीन आकाश-गामी नगर यदि हम लोगों के लिये बना दिये जायें तो देवताओं के अत्याचार से हम लोगों की रक्षा हो सकती है। इस काम के करने की शक्ति आप के अतिरिक्त किसी दूसरे में नहीं है। अतएव हम लोग प्रार्थना करते हैं कि आप इस त्रिपुर का निर्माण करने की कृपा करें। यही वरदान हम लोग चाहते हैं।' असुरों की प्रार्थना शिवजी ने स्वीकार की और असुरों के शिल्पी मायासुर को त्रिपुर निर्माण करने की आज्ञा दी। वह त्रिपुर आकाश में उड़ सकता और कोई भी उसे तोड़ नहीं सकता था। त्रिपुर को पाकर असुर बहुत प्रसन्न हुए, वे नये बल से बलवान होकर देवताओं को ललकारने लगे। त्रिपुर आकाश में घुमा कर देवताओं के कार्यों में विघ्न डालने लगे। अत्याचार का राज्य हुआ। देवता और उनके पक्षपाती बुरी तरह सताये जाने लगे। इन्द्र व्याकुल हो गये। वे विष्णु के पास गये। दोनों ने मिल कर निश्चय किया कि ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिसमें

शिव जी असुरों पर अप्रसन्न हो जायें। शिवजी की कृपा से ही ये बलवान हुए हैं और अत्याचार कर रहे हैं। यदि हम लोग ऐसा प्रयत्न करें और इस प्रयत्न में हम लोगों को सफलता मिले तो लाभ हो। यदि असुर इस तरह समझाये जाँय कि वे वेदों की निन्दा करने लगें और ईश्वर से विमुख हो जाँय तो अवश्य ही शिव जी उन पर क्रोध करेंगे और उस क्रोध से असुरों का विनाश हो जायगा। इस प्रकार निश्चय कर देवगुरू बृहस्पति ने नास्तिक शास्त्र बनाया जिसमें वैदिक धर्म का उपहास किया गया और ईश्वरवाद का खण्डन किया गया था। उस शास्त्र के तैयार होने पर देवता गण असुरों में उसका प्रचार करने के लिये घूमने लगे। देवताओं ने असुरों की सभा की और उसमें उन्हें सम्बोधन कर निम्न आशय का भाषण किया:—

"आत्मा क्या है? वेदवादी ब्राह्मणों ने स्वार्थ साधन के लिये आत्मा के विषय में बहुत भ्रम फैला रखा है। वे आत्मतत्व को बड़ा ही गूढ़ बतलाते हैं और बड़े भाग्य से आत्मज्ञान होना कहते हैं, पर यह बात सच नहीं है। आत्मा प्रत्यक्ष है। उसके विषय में अधिक ढूँढ़ ढाँढ़ करना समय नष्ट करना है। यह शरीर ही आत्मा है। अन्न रूपी ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति होती है। इस कारण देह आत्मा है। दयालु मनुष्य को चाहिये कि आत्मा रूपी देह का नाश न होने दे। इसको किसी प्रकार कष्ट न दे। जो देह रूपी आत्मा को कष्ट देता है वह स्वयं कष्ट पाता है। वेदों में पुत्र को आत्म रूप बत-

लाया गया है, इससे देह ही का आत्मा होना सिद्ध होता है। देह का अन्नमय कोष ही वेद के मत से ब्रह्म है। इससे देह रूपी आत्मा की हिंसा न करनी चाहिये। वेद और तन्त्रों में जो जीव हिंसा की बात लिखी है वह क्रूर और नीच पुरुषों की कल्पना मात्र है। राम! राम! वे कितने दुष्ट हैं जो हिंसा से पुण्य का होना बतलाते हैं। अजी यदि हिंसा से पुण्य हो तो जहर से अमृत होना चाहिये। कहते हैं कि यज्ञ में जिस पशु का बलिदान होता है उसको स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिता का ही बलिदान क्यों नहीं करता? अप्रत्यक्ष देवता और पितरों की तृप्ति के लिये प्रत्यक्ष देह रूपी आत्मा का हनन करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? श्राद्ध करना भी कर्म है। श्राद्ध में दी हुई बलि क्या प्रेत को थोड़े ही मिलती है। कोठे पर बैठा हुआ आदमी अपने लिये नीचे रखा हुआ अन्न नहीं खा सकता तो एक अदृश्य प्रेत श्राद्ध के पिण्ड से तृप्त हो जायगा इस बात पर कौन बुद्धिमान विश्वास कर सकता है? केवल ब्राह्मणों को मारने से ही ब्रह्महत्या नहीं होती, किन्तु समस्त शरीर ब्रह्म है, उसकी हत्या करना ही ब्रह्महत्या है।"

इस प्रकार उपदेश सुन कर असुर बहुत ही क्रोधित और दुःखित हुए। एक असुर ने मरा हुआ कुत्ता लाकर चार्वाक सन्यासी के माथे पर पटक दिया और कहा—लो यह तुम्हारे ब्रह्म हैं। इससे चार्वाक यति को बड़ा क्रोध आया और बोले—अरे दुष्ट असुर तूने यह अपवित्र शरीर क्यों छु दिया?

असुर ने कहा—तू तो देह ही को ब्रह्म मानता है, फिर यह देह अपवित्र किस तरह हुई? यह तो ब्रह्म है न? चार्वाक ने कहा—मृतक देह ब्रह्म नहीं है। यह सुन कर दूसरा असुर दौड़ा दौड़ा गया और एक कुत्ते का बच्चा ले आया। चार्वाक का मुँह उस कुत्ते के बच्चे के मुँह से लगा दिया। इस पर भी चार्वाक को बड़ा क्रोध आया।

उसने कहा—तुम बड़े दुष्ट हो, तुमने अपवित्र कुत्ते का मुँह हमारे मुँह में क्यों सटाया?

असुर बोला—अजी कुत्ते का मुँह अपवित्र कैसे? तुम तो जीवित शरीर को ब्रह्म मानते हो। ब्रह्म भी कहीं अपवित्र होता है?

दूसरे चार्वाक ने कहा—शरीर में प्राण वायु है, जिसे प्राण-मय कोष कहते हैं, वही ब्रह्म है, शरीर तो स्थूल है, यह ब्रह्म नहीं है अतएव अपवित्र है।

तब एक असुर ने एक चार्वाक के मुँह में फूँक मारी। इससे भी चार्वाक अप्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—तुम लोग बड़े उद्धत हो। तुम हमारे मुँह पर अपनी अपवित्र स्वाँस को क्यों छोड़ते हो? असुर ने कहा—आप तो प्राण वायु को ब्रह्म मानते हैं, ब्रह्म अपवित्र कैसे होगा? चार्वाक ने कहा-प्राण-मय कोष ब्रह्म नहीं है, मनोमय कोष ब्रह्म है, वह पवित्र है। इस पर असुर ने कहा कि—अच्छा जब तुम सोओगे तो मृतक समझ कर तुमको जला दूँगा क्योंकि सुप्तावस्था में मन का लय हो जाता है।

चार्वाक ने कहा—आनन्दमय कोष ब्रह्म है। शयनावस्था में भी आनन्द रहता है। क्योंकि सोकर उठने पर हम आनन्द से सोये ऐसा अनुभव होता है।

असुरों ने यह बात मान ली। ऊपर कहे हुए पाँच मत पाँच चार्वाक यतियों ने कहे थे। उनके ग्रन्थों में इन मतों का उल्लेख पाया जाता है। चार्वाक मत का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्व चार्वाक मानते हैं। जगत कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं हैं। शरीर में जीव कोई भिन्न वस्तु नहीं है। शरीर की चेतनता चारों तत्वों के संमिश्रण से होती है। केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बृहस्पति ने चार्वाक मुनि का रूप धारण कर इस प्रकार के मोहकारी मत का प्रचार किया और असुरों को नास्तिक बनाया। चार्वाक मुनि के उपदेश की आँधी से असुरों के हृदय की ईश्वर भक्ति की लता उखड़ गयी। असुर वेदों और वैदिक कार्यों की निन्दा करने लगे। वे जीवों पर तो दया करने लगे पर ईश्वर की शक्ति का बेतरह खण्डन करने लगे। इस तरह देवताओं का काम हो गया। बृहस्पति की विद्वत्ता ने देवताओं की कार्य सिद्धि के लिये अज्ञान का प्रचार किया। अपना काम करके साथियों के साथ बृहस्पति अपने स्थान को चले गये, पर इनका बोया विष फैलता गया जिसके फल स्वरूप वे सब के सब नास्तिक और शिव की क्रोधाग्नि में पड़ कर भस्म हो गये। इसी प्रकार देवगुरू बृहस्पति जी देवताओं के काम करते थे। ऐसा कोई कठिन प्रसंग देवताओं

पर नहीं आया है जिसमें वृहस्पति ने उनकी सहायता न की हो। उन सब कार्यों का परिचय देना हमारे लिये कठिन है। वृहस्पति देवताओं के रक्षक थे। वे देवताओं के कल्याण के लिये कर्म अकर्म सभी कर सकते थे। इस कारण देवता भी इनका बहुत सम्मान करते थे। इन्द्र एक प्रकार से वृहस्पति की आज्ञा के वशवर्त्ती थे। वृहस्पति नामक एक तारा भी आकाश में दिखायी पड़ता है। यह सप्तर्षि मण्डल का एक तारा है। वृहस्पति विद्या के अगाध समुद्र और प्रगाढ़ वक्ता समझे जाते हैं।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य।

इनके पिता का नाम भृगुऋषि और माता का नाम पुलोमा था। च्यवन, शुचि आदि और भी शुक्राचार्य के भाई थे। शुक्राचार्य नीति शास्त्रवेत्ता, धुरन्धर, राज्यकार्यपटु मन्त्र-शास्त्रज्ञ और आचार्य थे। शुक्राचार्य को दैत्यगुरू भी कहते हैं क्योंकि ये दैत्यों के गुरू थे। दैत्य, दानव आदि उनके उपदेश से चलते थे। दैत्य इनके विलकुल अधीन थे। इसका एक कारण यह भी था कि इनके पिता के पास मृत संजीवनी विद्या थी जिससे वे मृत मनुष्यों को जिला दिया करते थे। देवता और दानवों से जो युद्ध होता था और उस युद्ध में जो दानव मारे जाते थे उन्हें शुक्र महाराज अपनी विद्या के प्रताप से जिला देते थे। इससे दैत्यों का बल सदा बना रहता और घटने नहीं पाता था। जिस प्रकार देवता वृहस्पति को गुरु मानते और वृहस्पति की आज्ञा के अनुसार चलते थे उसी प्रकार दैत्य भी शुक्राचार्य को अपना गुरु मानते और उनके कहने के अनुसार चलते थे। इस सम्बन्ध से इस देव दानव युद्ध का परिणाम शुक्र और वृहस्पति को भोगना पड़ता था। ये दोनों सदा एक दूसरे के प्रयत्न को असफल करने की चेष्टा किया करते थे। देव विजय का अर्थ था वृहस्पति की नीति कुशलता और इसी प्रकार दैत्य विजय का अर्थ था शुक्र की नीति कुशलता। इस कारण इन दोनों में सदा लाग डांट रहा करती थी।

एक बार देवताओं के पराक्रम से दानव व्याकुल होगये। तब उन लोगों ने शुक्राचार्य से कहा कि महाराज! आपके रहते हम लोगों की ऐसी बुरी दशा हो रही है। शुक्राचार्य ने बहुत सोचा विचारा, पर कोई बुद्धि काम न आयी। तब उन्होंने मेघों को खींचकर अपने वश में कर लिया और चार वर्ष तक उन्हें कैद कर रखा। शुक्र का ऐसा करने का मतलब यह था जिसमें मेघों के कैद में रहने से वृष्टि होगी ही नहीं तो अन्न आदि कहाँ से पैदा होगा और इस तरह अन्न आदि के अभाव में याग, यज्ञ आदि बन्द हो जायँगे। याग, यज्ञ आदि के बन्द होने से देवताओं को भोजन न मिल सकेगा। भोजन न मिलने से वे बलहीन हो जायँगे फिर तो अपनी विजय निश्चित ही है। देखा, आपने शुक्रजी ने कितनी दूर की बात सोची थी। आखिर ठहरे दैत्य गुरु। पर चार वर्ष के बीतने पर इन्द्र ने शुक्र से युद्ध किया और उन्हें हराकर मेघों को छुड़ा लिया। शुक्रजी की चालाकी एक न चली।

शुक्रनीति नाम की एक संस्कृत पुस्तक नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध है। वह शुक्र की बनाई पुस्तक है। शुक्र की नीति का उसमें उल्लेख है। कहा जाता है कि शुक्र ने अपने शिष्यों के कल्याण के लिये इस पुस्तक का निर्माण किया था। शुक्र के बाद भी शिष्यों को कष्ट न हो, बुद्धि और युक्ति से वे अपनी रक्षा कर सकें इसलिये उन्होंने यह पुस्तक बनायी थी।

शुक्राचार्य की स्त्री का नाम जयन्ती था। जयन्ती प्रथम पुरन्दर इन्द्र की कन्या थी। जयन्ती के गर्भ से देवयानी नाम

की एक कन्या उत्पन्न हुई थी। शुक्राचार्य ने शतपर्वा नाम की एक दूसरी स्त्री से भी विवाह किया था। इस स्त्री से चार पुत्र उत्पन्न हुए थे जिनके नाम त्वाष्ट्रधर, अत्रि, रौद्र और कर्मी थे। यह बात लिखी जाचुकी है कि शुक्र मृतसंजीविनी विद्या जानते थे और उसके बल से मरे हुए दैत्यों को वे जीवित कर लिया करते थे। यह विद्या देवताओं के पास नहीं थी। इसलिये देवताओं ने बृहस्पति से कहा कि महाराज! ऐसा कोई उपाय कीजिये जिससे हम लोगों को मृत संजीविनी विद्या का ज्ञान हो जाय। बृहस्पति ने अपने पुत्र कच को शुक्राचार्य के यहाँ विद्या पढ़ने को भेजा और मृत संजीविनी विद्या सीखने की भी आज्ञा दी। कच शुक्राचार्य के पास आये। शुक्राचार्य इससे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने इस बात में अपना गौरव समझा। बड़े प्रेम से शुक्राचार्य कच को पढ़ाने लगे।

शुक्राचार्य की कन्या देवयानी भी कच को देखकर बहुत प्रसन्न हुई। वह कच के साथ खेला करती थी। दैत्यों को यह बात मालूम होगई कि बृहस्पति का बेटा कच शुक्राचार्य के पास विद्या पढ़ने आया है और शुक्र भी उसे प्रसन्नता पूर्वक पढ़ा रहे हैं। गुरु की प्रसन्नता से दैत्यों को इस बात का निश्चय होगया कि अब तो वे कच को मृत संजीविनी विद्या अवश्य ही पढ़ा देंगे। जिससे देवताओं का बल बढ़ जायगा। अतः दैत्यों ने कच को मार डालने का निश्चय किया। अब वे अपने निश्चय को सफल करने का अवसर

ढूंढ़ने लगे। एक दिन कच वन में गाय चराने गया था। दैत्यों ने इसे उत्तम अवसर समझा और कच को मार डाला। सन्ध्या होगई पर कच जब घर वापस नहीं गया तो देवयानी उसे चारों ओर ढूंढ़ने लगी। कच का कहीं पता नहीं चला। देवयानी के मनमें सन्देह हुआ। उसने अपने पिता से कहा "कच अभी नहीं आया, मालुम होता है उसे दैत्यों ने मार डाला है! क्योंकि इधर दैत्य उससे द्वेष करने लगे थे।" कच का न लौटना सुनकर शुक्राचार्य भी चिन्तित हुए। उन्होंने भी जाँच पड़ताल शुरू की। अन्त में जब उन्हें इस बात का निश्चय होगया कि दैत्यों ने ही कच को मार डाला है तब उन्होंने अपनी विद्याके प्रभाव से उसे जिला दिया और उसे मृत संजीविनी विद्या भी सिखा दी। इस तरह कई वर्षों तक रहकर कच ने विद्याभ्यास किया। शुक्र ने जब देखा कि कच विद्या में प्रवीण हो गया तब उन्होंने उसे घर जाने की आज्ञा दी। घर जाते समय कच ने देवयानी से आज्ञा मांगी। देवयानी ने उससे अपना ब्याह कर लेने की इच्छा प्रकट की। कच ने कहा—देवयानी, तुम्हारे साथ रहने से हमें बड़ा आनन्द मिला। आगे भी यदि हम लोग एक साथ रहें तो वह कम प्रसन्नता की बात न होगी। पर ऐसा संयोग नहीं है, तुमने अपनी जो इच्छा प्रकट की है वह पूरी नहीं हो सकती। क्योंकि तुम हमारी गुरुपुत्री हो और हमारी बहन लगती हो। ऐसी दशा में हमारा तुम्हारा विवाह कैसे हो सकता है। कच के इस तरह इनकार करने से देवयानी

के मन में बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा—तुमने हमारी प्रार्थना स्वीकार नहीं की इससे मुझे बहुत दुःख हुआ है और अपने मानसिक कष्ट के कारण में तुम्हें शाप देती हूँ कि तुमने यहाँ जो विद्या पढ़ी है वह तुम्हारे किसी काम न आयेगी।' इस पर कच को भी क्रोध आया और उसने कहा—विना अपराध शाप देकर तुमने मेरी विद्या निष्फल की है इस कारण मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ कि कोई भी ऋषिपुत्र तुमसे व्याह नहीं करेगा।

कच अपने घर चले आये। देवयानी और कच के कलहमें अधिक हानि देवयानी की ही हुई। कच की विद्या निष्फल हुई। पर उन्होंने जो विद्या सीखी थी वह औरों को पढ़ा दी और उन लोगों ने उसका उचित उपयोग किया।

शुक्राचार्य कर्म काण्ड के भी निपुण ज्ञाता थे। इन्होंने राजा बलि को निन्नानवे यज्ञ कराये थे। सौ यज्ञ करनेवाला मनुष्य इन्द्रपद पाने का अधिकारी हो जाता है। बलि इसी उद्देश्य से यज्ञ कर रहा था। निन्नानवे पूरे हो चुके थे। सौवां प्रारंभ था। इस बात की खबर पाकर इन्द्र बहुत घबड़ाये। उनकी माता अदिति भी बहुत दुःखी हुई। उन्होंने अपने पुत्र का इन्द्रपद बना रहने के लिये तपस्या की। भगवान विष्णु ने प्रसन्न होकर वर दिया कि हम आपके गर्भ से वामन रूप में अवतार लेंगे और आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे। वैसाही हुआ। वामन रूपी भगवान बलि के यज्ञ में पहुँचे। उस अवसर पर शुक्राचार्य वहीं थे। उन्होंने राजा बलि से कहा महा-

राज! ये वामन देवता देवों की ओर से तुम्हें छलने के लिये आ रहे हैं, विना इनका स्पष्ट अभिप्राय जाने इनको कोई वचन न देना और यदि ये दान में पृथ्वी मांगें तो कह देना कि पृथ्वी में देवता ब्राह्मण आदि अन्य कितने के भी भाग हैं इसलिये मैं अकेले पृथ्वी दान करने का अधिकारी नहीं हूँ । पर, वलि ने शुक्र की कोई वात न मानी । उन्होंने कहा—जव साक्षात् प्रभुही मुझ से मांगने आ रहे हैं तव ऐसी कौनसी वस्तु है जो उन्हें देने लायक नहीं । उसके भाग्य धन्य हैं जिसके द्वार पर प्रभु माँगने के लिये आवें । शुक्राचार्य चुप हो रहे । वामन भगवान ब्राह्मण के रूप में राजा वलि के सामने आकर खड़े हो गये और तीन पैर पृथ्वी दानमें माँगी । राजा वलि दान करने के लिये संकल्प करने लगे । झारी से जल लेना चाहा । पर, शुक्र उस झारी की टोंटी में पहले ही से घुस गये थे जिससे पानी न निकला । शुक्राचार्य की चतुराई भला वामन भगवान से कव छिपी रह सकती थी । उन्हें मनही मन वड़ा क्रोध आया कि यह क्यों हमारे काम में विघ्न डालने को उतारु हुआ है । एक कुशा लेकर वामन ने झारी की टोंटी साफ कर दी जिससे शुक्र की एक आँख फूट गयी । तभी से शुक्र एकाक्ष हो गये । वामनजी ने अपना काम पूरा किया । राजा वलि को पाताल का राज्य दिया ।

दैत्यों और दानवों के उपकार के लिये शुक्राचार्य ने अपनी समस्त शक्ति खर्च कर दी । पर दैत्य, दानव थे उजड्ड और मूर्ख जिससे वे शुक्राचार्य के उपदेशों से पूरा पूरा लाभ न उठा सके । शुक्र नाम का एक चमकीला तारा अव भी आकाश में उगा करता है । इस तारा से आस्तिक हिन्दुओं के अनेक मंगल कृत्यों का सम्वन्ध है ।

महर्षि अगस्त्य।

वैवस्वत मन्वन्तर में मित्रावरुण ऋषिके यहाँ इनका जन्म हुआ था। ये बड़े ही प्रतापी, तेजस्वी और प्रसिद्ध ऋषि थे। इनके जन्म के सम्बन्ध में विलक्षण कथा पुराणों में लिखी है। मित्रावरुण ऋषि का आश्रम समुद्र तीर पर था। समुद्र की लहरों से किसी दिन ऋषि का कमण्डलु, किसी दिन लंगोटी किसी दिन कोई और वस्तु समुद्र में बहकर चली जाती थी। इससे ऋषि को बहुत कष्ट होता था। अपनी आवश्यक वस्तुओं के नष्ट होने से ऋषि का चित्त चंचल हो जाता था जिससे इन्हें अपने नित्य कर्म में बाधा होती थी। इससे जप, तप की शृंखला बिगड़ जाती थी। ऋषि ने समुद्र से बहुत अनुनय, विनय की, उससे अपने दुःख बतलाये। पर, उसने इनकी प्रार्थनाओं पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। अनेक प्रयत्न करने पर भी जब कोई फल न निकला तब ऋषि को क्रोध हुआ। उन्होंने यह निश्चय किया कि इस उजड्ड से सीधे ढंग से काम न निकलेगा अतः किसी प्रकार ऐसा पुत्र उत्पन्न करना चाहिये जो इस उद्दण्डता का उचित उत्तर समुद्र को दे। इसी इच्छा से प्रेरित होकर पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करने के लिये उन्होंने तपस्या की। तपस्या पूरी होने पर अपना तेज एक घड़े में भर कर उन्होंने किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया। वह घड़ा ऋषि ने स्वयं किसी विशेष रीति से तैयार किया था। उचित समय पर वह घड़ा फटा और उसमें से

एक बालक निकला। उसी समय से उस बच्चे के गले में यज्ञोपवीत और कमर में कटिसूत्र वर्तमान था। उसके मुख-मण्डल पर तेजस्विता, पराक्रम और बुद्धिबल के चिन्ह स्पष्ट देख पड़ते थे। ऋषि ने बच्चे का नाम अगस्त्य रखा। बच्चे का जन्म कुम्भ से हुआ था अतः अगस्त्य को कुम्भज भी कहा जाता है।

अगस्त्य पिता की आज्ञा से काशी पढ़ने आये। योग्य गुरुओं से उन्होंने विद्याध्ययन किया। पूर्ण पण्डित बन जाने पर ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने तपस्या करने की इच्छा पिता से प्रकट की। पिता चाहते थे कि अगस्त्य विवाह करें जिस से वंश की रक्षा हो। अतः अगस्त्य ने पिता की इच्छा के अनुसार ही काम करना निश्चय किया।

अगस्त्य अपना विवाह करने की इच्छा से कन्या ढूँढ़ने के लिये निकले। उन्होंने बहुत खोजा पर उनके मनानुकूल सुन्दरी कन्या न मिली। उन्हीं दिनों अगस्त्य को मालूम हुआ कि विदर्भ देश के राजा पुत्र के लिये तपस्या कर रहे हैं। अगस्त्य ने तपोबल से ऐसी रचना रची कि जिससे महारानी के गर्भ में कन्या आयी और महर्षि ने उस कन्या पर अपना अभीप्सित सौन्दर्य भी प्रतिबिम्बित कर दिया। समय पर महारानी के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने तपस्या की थी पुत्र के लिये पर हुई कन्या। उस कन्या का नाम लोपामुद्रा रखा गया। क्योंकि पुत्र की मुद्रा (चिन्ह) के लोप हो जाने से वह उत्पन्न हुई

थी। जब वह कन्या बड़ी हुई तब राजा ने इसके व्याह के लिये स्वयम्वर सभा इकट्ठी करनी चाही। वे स्वयम्वर की तैयारी करने भी लगे। इसी समय महर्षि अगस्त्य राजा के पास पहुँचे और उन्होंने कन्या अपने लिये माँगी। महर्षि की प्रार्थना सुन कर राजा चुप हो गये विचार कर उत्तर देने के लिये राजा ने महर्षि से कहा और उनके ठहरने आदि का भी प्रबन्ध कर दिया। राजा ने इस विषय में लोपामुद्रा का मत पुछवाया। उन्होंने ऋषि के साथ विवाह करने की सम्मति दे दी। कन्या का अभिप्राय मालूम होने पर राजा ने महर्षि के साथ उसका विवाह कर दिया। विवाह के बाद दोनों काशी आये। लोपामुद्रा योग्य पति की योग्य स्त्री थी। वह बहुत बड़ी पतिव्रता थीं। उन्होंने ऋग्वेद के कई सूत्र बनाये हैं।

महर्षि अगस्त्य बड़े तत्ववेत्ता और वीर थे। ये धनुर्वेद के भी बड़े भारी ज्ञानी थे तथा धनुष वाण साथ रखकर सदा देशाटन किया करते थे। जो राजा धर्म विरुद्ध राज्य करता था, प्रजा को पीड़ा पहुँचाता था, वेदों की निन्दा करता था गौ, ब्राह्मण की रक्षा में ध्यान न देता था, उस पर अगस्त्यजी का क्रोध प्रकट होता था। अगस्त्यजी उसे समझाते थे रास्ते पर आ जाने के लिये सावधान करते थे। यदि अगस्त्यजी की बात मान ली गई, अधर्मी राजाओं ने अधर्म का मार्ग छोड़ दिया और वे धर्म के मार्ग पर आ गये तब तो ठीक, अन्यथा उन्हें अगस्त्यजी के क्रोध का सामना करना पड़ता था। अगस्त्यजी उससे युद्ध करते थे और बलपूर्वक धर्म पथ

पर आने के लिये उसे लाचार करते थे। वे डाकुओं और लुटेरों को दण्ड देने के लिये भी सदा तैयार रहते थे। वे अपने किसी शौक को पूरा करने के लिये अथवा स्वार्थ की सिद्धि के लिये ऐसा नहीं करते थे, वल्कि धर्मव्यवस्था के लिये वे ऐसा करते थे। धर्म की मर्यादा का अपमान अथवा उसका भंग किया जाना उन्हें पसन्द नहीं था। अतएव किसी के धन हरण करने वाले को, किसी की गौ चुराने वाले को किसी स्त्री का अपमान करने वाले को वे कभी क्षमा नहीं करते थे।

ये व्यूह रचना में भी बड़े दक्ष थे। धनुर्वेद की अन्य क्रियाओं का ज्ञान तो इन्हें था ही व्यूह के विषय में भी ये अद्वितीय पण्डित समझे जाते थे। कौरवों और पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य तथा राजा द्रुपद इनके शिष्य थे। उन लोगों ने उनसे धनुर्वेद सीखा था। विशेषतः व्यूह रचना का इन लोगों ने अध्ययन किया था। इससे भी महर्षि अगस्त्य के धनुर्वेद के ज्ञान की अगाधता का पता चलता है। ये शास्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार की विद्याओं में दक्ष थे तथा अवसर आने पर उनका उपयोग भी करते थे।

ऊपर यह तो लिखा ही गया है कि विवाह के बाद ये काशी गये थे उसी समय से अपनी यौवनावस्था से ही इन्होंने देशाटन आरम्भ किया था। तीर्थों में गये थे जंगलों, नदियों और पर्वतों को देखा था। इन बातों से उनका प्राकृतिक ज्ञान भी बहुत बढ़ गया था। प्राकृतिक पदार्थों का निरीक्षण ही

इनकी यात्रा का उद्देश्य नहीं था वल्कि साथ साथ वे धर्मोपदेश भी करते जाते थे। अगस्त्यजी के ये काम उस समय सब समाजों में बड़े गौरव से देखे गये थे। देवता, ऋषि, मुनि, राजा, प्रजा आदि सभी अगस्त्यजी का बड़ा आदर करते थे। अगस्त्यजी के विषय में उनकी वड़ी श्रद्धा थी।

महर्षि अगस्त्य के लोकोत्तर कामों में समुद्र पान की कथा तो प्रसिद्ध ही है, इनका दूसरा लोकोत्तर कार्य है विन्ध्यगिरि का निवारण। एकवार विन्ध्य पर्वत वढ़ने लगा, सूर्य भगवान का मार्ग रोकने की इच्छा से उसने अपना शिर बहुत ऊँचा उठाया। विन्ध्याचल के इस आचरण से देवता तथा अन्यजन सभी हाहाकार करने लगे। देवताओं ने अगस्त्यजी से प्रार्थना की कि–'आप कृपाकर इस विघ्न को हटाने का कोई उपाय कीजिये।' इसके लिये खास कर महर्षि अगस्त्य से ही प्रार्थना करने का उद्देश्य यह था कि विन्ध्याचल इनका शिष्य था। उस पर गुरु का प्रभाव पड़ेगा, इसी आशा से देवताओं ने अगस्त्यजी से उसका उपाय करने की प्रार्थना की।

उस समय महर्षि अगस्त्य काशी में धर्मोपदेश करते थे। ये वहां से चले, रास्ते में विन्ध्य पर्वत मिला। उसने गुरु को देख कर उनको साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया। गुरु ने आशीर्वाद दिया और कहा–वच्चा तुम तव तक इसी तरह पड़े रहो जव तक मैं लौट न आऊँ।' विन्ध्य ने गुरु की वात मान ली। अगस्त्यजी वहाँ से दक्षिण दिशा में चले गये तव से लौटे ही नहीं। महर्षि अगस्त्य ने सोमवार को यह यात्रा की थी इस

कारण काशी में यह वात प्रसिद्ध है कि सोमवार को काशी से जाने पर मनुष्य पुनः लौट कर काशी नहीं आता। इसी से धर्म भीरु आस्तिक जन सोमवार को काशी से प्रस्थान नहीं करते। काशी से सोमवार की यात्रा अगस्त्यके नाम से प्रसिद्ध है। अगस्त्यजी दक्षिण से फिर नहीं लौटे और विन्ध्याचल भी फिर नहीं उठा। इस प्रकार भारतवासियों एवं संसारवासियों का भी वड़ा भारी भय दूर हुआ।

इनके सम्बन्ध में एक कथा और भी प्रचलित है। आतापी, वातापी और इल्ल नाम के राक्षस वड़े ही दुष्ट थे। इन लोगों ने अनेक ऋषि, मुनि, धर्मात्माओं का नाश किया था। इनको कोई ऐसी विद्या मालूम थी कि वे फल, फूल आदि जिस चीज का चाहते रूप धर सकते थे। इनमें से एक वही जल, फल आदि ऋषियों को देता था और जब मुनि उन्हें खा पी लेते थे तव इनमें का जो वाहर रहता था वह उसका नाम लेकर पुकारता था। जो पेट में चला गया रहता था वाहर वाले भाई की आवाज सुनते ही वह पेट फाड़ कर वाहर निकल आता था और जिसके पेट से ये निकलते थे उसका प्राणांत हो जाता था। इस धूर्तता से इन लोगों ने अनेक ऋषि मुनियों का नाश किया था। इनके अत्याचारों से उस समय के ऋषि मुनि सदा भयभीत रहा करते थे। जव अगस्त्यजी को यह वात मालूम हुई तो ये स्वयं उन असुरों के पास गये। इनके साथ भी उन लोगों ने अपनी पुरानी लीला रची। पर, समुद्र सोखने वाले अगस्त्यजी के पेट से वाहर निकल आना क्या

कोई आसान काम था। अगस्त्यजी ने उन राक्षसों को जो फल, फूल आदि के रूप में परिणत हो गये थे, खा लिया और पेट पर हाथ रख कर पचा लिया। तभी से ऋषि, मुनियों का भय छूट गया और उनके प्राण बचे।

श्रीरामचन्द्रजी वनवास के समय अगस्त्यजी के आश्रम पर गये थे। सुतीक्ष्ण ने उन्हें महर्षि अगस्त्य के आश्रम का पता बताया था। उस समय अगस्त्य का आश्रम दण्डकारण्य में था। गोदावरी के उत्तर तट पर दण्डकारण्य था। कहते हैं कि दण्डक नाम का विदर्भ एक राजा था, वह राजा बड़ाही यथेच्छाचारी था, धर्माधर्म का ख्याल वह कुछ भी नहीं करता था। इससे भृगु ऋषि अप्रसन्न हुए और उन्होंने राजा का तो नाश करही दिया साथही उस देश के निवासियों और उस देश को भी भस्म कर डाला। तभी से उस भूमि का नाम दण्डकारण्य पड़ा। महर्षि अगस्त्य जब काशी से दक्षिण दिशा में रहने के लिये गये तब इन्होंने अपने आश्रम के लिये दण्ड-कारण्य की ही भूमि पसन्द की। पर, वह वन बिलकुल सूखा था। वहाँ रहने से जीवन की आवश्यक वस्तुओं का मिलना कठिन था, अतएव महर्षि अगस्त्य स्वर्ग में गये और वहां से अमृत लाकर दण्डकारण्यकी भूमि को इन्होंने जीवित किया। अगस्त्यजी के अमृत छींटने से वहां की भूमि लहलहा गयी, यह देख अन्य ऋषि मुनियों ने भी वहां आश्रम बनाये और अगस्त्यजी भी आश्रम बना कर रहने लगे। वहीं सीता और लक्ष्मण के साथ रामचन्द्रजी भी गये थे। श्रीरामचन्द्र को

अगस्त्य ने उपदेश दिये थे और उन्हें पंचवटी में आश्रम बना-कर रहने की सम्मति दी थी ।

महर्षि अगस्त्य सप्तर्षि मण्डल के एक सदस्य हैं । एक समय राजा नहुष को संयोग वश इन्द्र का पद मिला । इन्द्र पद के मिलतेही नहुष उन्मत्त हो गया । अपने सामने वह समस्त संसार को तुच्छ समझने लगा । इन्द्र का पद पातेही उसने इन्द्राणी को तलब किया । नहुष के इस आचरण को देख कर इन्द्राणी बहुतही भयभीत और दुःखित हुई । इन्द्राणी ने वृहस्पति को बुला कर सभी बातें कहीं और अपनी रक्षा का उपाय पूछा । वृहस्पति नहुष का उन्माद देख ही चुके थे। उन्होंने इन्द्राणी से कहा-आप उनको कहला दें कि-मैं आपके पास न आऊँगी, आपही स्वयं मेरे पास सप्तर्षियों से उठवा कर पालकी पर चढ़ कर आइये ।' इन्द्राणी ने नहुष के यहां यह संवाद भेज दिया । नहुष तो उन्मत्त हुआ ही था, उसे भले बुरे का ज्ञान नहीं था । वह अपनी सुध बुध बिलकुल खो चुका तथा कामांध हो गया था । सप्तर्षियों को उसने बुलवाया और उनसे पालकी उठवा कर इन्द्राणी के पास चला । भला इन सप्तर्षियों ने कब पालकी ढोयी थी जो इनको पालकी ढोने का अभ्यास हो । वे धीरे धीरे किसी प्रकार पालकी लेकर चलने लगे । पर नहुष इन्द्राणी के लिये बहुत व्याकुल था । उसे थोड़ा विलम्ब भी सहा न जाता था । इससे वह बार बार ऋषियों से चलने के लिये कहता था । वह उनसे संस्कृत में बोलकर 'सर्प' 'सर्प' कहता था जिसका

तात्पर्य 'चलो' 'चलो' से था। ऋषिगण उसके अन्याय से दुःखी तो थे ही साथ ही क्रोध भी उनको आया था। पर तपस्या भंग के भय से वे चुप थे। किन्तु, अगस्त्यजी से नहुष का अत्याचार देखा न गया। उन्होंने नहुष को शाप दिया—सर्पो भव, अर्थात् 'तू सांप हो जा'। सत्यवादियों की वाणी कभी असत्य नहीं होती। उनके मुँह से जो निकल जाय वह सत्य ही होता है। उसी समय अपनी सब आशाओं के साथ राजा नहुष सर्प हो गये।

अगस्त्यजी महर्षि थे। महर्षि में जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सब गुण इनमें थे इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है। महर्षि अगस्त्य ने श्रीरामचन्द्र को कई अमोघ अस्त्र शस्त्र दिये थे। रावण वध कर जब श्रीरामचन्द्र अयोध्या लौट आये और राज्य करने लगे तब वहाँ अगस्त्यजी भी अन्य ऋषि, मुनियों के साथ आये। श्रीरामचन्द्रजी ने अगस्त्यजी से कई प्रश्न पूछे थे। अगस्त्यजी ने उन प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया था।

देवर्षि नारद ।

देवर्षि नारद का परिचय भारतवासियों के लिये देने की आवश्यकता नहीं। देवर्षि नारद प्रसिद्ध हैं, पढ़े अनपढ़े सभी लोग देवर्षि नारद के विषय में कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रखते हैं। इनकी अधिक प्रसिद्धि है इस कारण इनके विषय में तरह तरह की बातें लोग कहा करते हैं। पुराण ग्रन्थों से संकलित कर देवर्षि नारद का परिचय यहां दिया जाता है—

स्वायम्भुव मन्वन्तर में ब्रह्मा ने दस मानस पुत्र उत्पन्न किये थे। उन्हीं दस मानस पुत्रों में एक नारद भी थे। ब्रह्मा ने सृष्टि प्रसार करने के लिये इन दस मानस पुत्रों की सृष्टि की थी। पर वे पुत्र इस कार्य के लिये असमर्थ निकले। उनमें सात्विक अंश अधिक था। इस कारण संसार के झंझटों में फंसना उन्हें अच्छा नहीं लगा। नारद ने भी अपने अन्य भाइयों का अनुकरण किया और इन्होंने भी ब्याह नहीं किया। ये सदा बाल ब्रह्मचारी रहे। परमात्म चिंतन ही इनके जीवन का प्रधान उद्देश्य रहा। नारद को विद्याभ्यास का भी बड़ा अच्छा मौका मिला। इन्होंने अपने भाइयों के साथ सब विद्याओं का अभ्यास किया, तपस्या की, देवर्षि की पदवी इन्हें प्राप्त हुई और अपनी योग्यता के कारण ये देवर्षियों में प्रधान गिने जाने लगे। अधिक से अधिक योग्यता पाने पर भी इनका बालस्वभाव नहीं छूटा था। कहा जाता है कि

इधर की बात उधर कहकर ये लोगों को लड़ाया करते थे। सच्ची बात क्या है यह तो मालूम नहीं पर प्रसिद्धि ऐसी ही है।

इस प्रसिद्धि के कारण ही आज कल भी इधर की बात उधर लगाने वालों को नारद की उपाधि दी जाती है। पर ऐसा करना नारद के साथ अन्याय करना है। नारद झगड़ा नहीं लगाते थे वल्कि इधर की बातें जो उधर किया करते थे वह उत्तम उद्देश्यों से प्रेरित होकर करते थे। नारद देवताओं की नीति दैत्यों को वतला दिया करते थे और दैत्यों की नीति यदि मालूम हो तो देवताओं को वतला दिया करते थे। इसमें इनका उद्देश्य क्या रहता था वह विल्कुल स्पष्ट है। नारद छिप कर न तो कोई काम स्वयं करते थे और न दूसरे को ही छिप कर काम करने देना चाहते थे। अनीति इन्हें पसन्द नहीं थी। ये सभी को सावधान कर देना अपना कर्त्तव्य समझते थे। सम्भवतः इनका उद्देश्य यह रहा होगा कि योग्यता से लोग विजय पावें। छल कपट से, धोखाधड़ी से विजय प्राप्त करने की नीति इनकी दृष्टि में हेय थी। यही इनकी नीति थी। नारद की नीति के कारण कितनों की हानियाँ हो जाया करती थीं। जिसकी हानि होती है वह अपने हानिकर्त्ता की निन्दा करे इसमें आश्चर्य की कौन सी वात है।

नारद तीनों लोक में जहाँ चाहे जा सकते थे। जिसके यहाँ ये चाहते जा सकते थे। इनके लिये कोई रोक टोक न थी। ये सर्वत्र विचरण किया करते थे अतएव इनको सब

जगह की खबर भी रहा करती थी। लोगों को भी यह बात मालूम थी कि नारद जी सर्वत्र विचरण करते रहते हैं अतएव इन्हें कोई न कोई नयी खबर अवश्य मालूम होगी। इसी लिये नारद जी से लोग खबरें पूछा करते थे। जब नारद जी ने लोगों की यह प्रवृत्ति देखी तब वे भी खबरों को संग्रह करने लगे।

ये संगीत विद्या के एक आचार्य हैं। इनकी प्रकाशित गान विद्या नारदी गान के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि पहले पहल नारद ने यमुना के तट पर कहीं आश्रम बनाया और वहीं रहने लगे। वहीं इन्होंने गान विद्या का अभ्यास किया। बाद में आश्रम को छोड़ कर ये त्रिलोक में घूमने लगे। वीणा इनके पास सदा रहती थी और ये सदा अपने में ही संतुष्ट रहा करते थे। सदा गाया करते थे। इनके गान में नीति और धर्म का उपदेश भरा रहता था। नारद जहाँ जाते लोग इनके गान और उपदेश सुनने के लिये एकत्रित हो जाते थे। इसके दो कारण थे—एक तो संगीत विद्या का रसास्वाद मिलता था दूसरे धर्म और नीति के उपदेश भी सुनने को मिलते थे। ऐसा सुयोग छोड़ना कोई विरला ही अभागा चाहेगा। इससे नारदजी की सर्व प्रियता बढ़ने लगी। नारद के उपदेश का असर भी लोगों पर खूब होता था। नारद उपचार से बड़ी घृणा करते थे। महत्व नाम का कीड़ा इनकी बुद्धि में नहीं लगा था। अतएव जहाँ इच्छा होती गली में, कूचे में सब जगह नारद गाना आरम्भ कर देते थे। सब

जगह अपना उपदेश प्रारंभ कर देते थे। नारद का उपदेश प्रारंभ होते ही लोगों की भीड़ लग जाती थी। नारद विरक्त थे, उन्हें न तो किसी को खुश रखना था और न किसी को नाराज करना था। नारद अपना काम करते थे उससे कोई खुश होना चाहे तो खुश होले और कोई नाराज होना चाहे तो नाराज होवे। इन बातों की चिन्ता नारद को न थी। पर नारद पर नाराज कोई नहीं होता था। क्योंकि नारद किसी की नाराजी का कुछ परवाह नहीं करते थे। मनुष्य नाराज होता है भय दिखाने के लिये, दण्ड देने के लिये, पर जो नाराजी से डरता नहीं उस पर नाराज होना व्यर्थ है। उसी से वैसे मनुष्यों पर कोई नाराज भी नहीं होता था। नारद पर सभी प्रसन्न रहते थे। देवता, ऋषि, मुनि, राजा, प्रजा सभी नारद पर प्रसन्न थे। सभी नारद से बातचीत करना और नारद का गान सुनना पसन्द करते थे। नारद सदा भगवान का नाम स्मरण किया करते थे। विष्णु भगवान की उन पर बड़ी प्रसन्नता थी। कहते हैं नारद भगवान के अंतरंग मित्रों में से थे।

नारद के साठ हजार शिष्य थे। उन्होंने सब को उत्तम ज्ञान की शिक्षा दी थी। नारद ने पंचरात्र नामक एक ग्रन्थ बनाया है जो नारद पंचरात्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी पुरानी प्रति इस समय प्राप्त नहीं होती। इस समय जो इस नाम से प्रसिद्ध पुस्तक पायी जाती है उसमें बहुत हिस्सा मिला दिया गया है। पर ऐसी बात कहने वाले अपने मत

को पुष्ट करने का कोई प्रबल प्रमाण नहीं देते। श्री वैष्णव सम्प्रदाय का यह मान्य ग्रन्थ है। नारद पुराण नाम का ग्रन्थ नारद के नाम से प्रसिद्ध है। नारद की कई विशेषताएँ हैं। उनमें पहली और प्रधान विशेषता यह है कि जहाँ देखिये वहाँ नारद हाजिर हैं। श्रीरामचन्द्र की सभा में धर्मशास्त्रियों के साथ नारद धर्म निर्णय कर रहे हैं। कुवेर की सभा भी नारद से खाली नहीं रहती। इन्द्र की सभा में तो नारद का बड़ा ही आदर होता है। नारद के द्वारा लोक लोकान्तरों की खबर पाकर इन्द्र बहुत प्रसन्न होते हैं। युधिष्ठिर की सभा में भी नारद आये हैं और उन्होंने नीति तत्व के उपदेश दिये हैं। नारद के उपदेश नारद नीति के नाम से प्रसिद्ध हैं। लक्ष्मी के साथ विष्णु का विवाह कराने वालों में नारद ही प्रधान हैं। उर्वशी नाम की अप्सरा इन्द्र को बहुत प्रिय थी पर उसका प्रेम राजा पुरूरवा पर था। राजा पुरूरवा भी उसे चाहते थे। बड़ा ही विकट प्रसंग आया, किया क्या जाय। विष्णु को इसकी खबर मिली। विष्णु ने इस झगड़े को निपटाने का भार नारद को दिया। नारद ने इन्द्र को समझाया बुझाया और उर्वसी पुरूरवा को मिल गयी। जालन्धर नाम का एक दैत्य था। इसकी स्त्री का नाम वृन्दा था। वृन्दा बड़ी ही पतिव्रता थी। उसके पातिव्रत्य के प्रभाव से दैत्य बड़ा बलवान हो गया था। सती के प्रभाव के कारण इसे मारने वाला कोई नहीं था। इससे उन्मत्त होकर वह क्रूरतापूर्वक देवता मनुष्य आदि पर अत्याचार करता था। उसके अत्याचार से

लोग दुःखी और हताश हो गये थे। नारद को इस बात की खबर लगी। इन्होंने युक्ति करके उसे मरवा डाला। वसुदेव के यहाँ कृष्ण जन्म लेंगे, यह आकाश वाणी सत्य है, यह बात नारद ने ही कंस को बतलायी थी। कंस अधिकता और तत्परता से पापकर्म करे जिससे शीघ्र उसका विनाश हो इसका प्रबन्ध भी नारद ने ही किया था वासवदत्ता का पुत्र विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा इस बात को प्रकाशित करने का अवसर नारद को ही सबसे पहले मिला था। सत्यवान के अल्पायु होने की बात भी इन्होंने ही कही थी जिस विकट प्रसंग को सावित्री ने अपने सतीत्व के प्रताप से टाल दिया था। बालक ध्रुव को नारदजी ने ही उपदेश दिया था। ऋतुध्वज को भी इन्होंने ही उपदेश दिया था। इस प्रकार पुराण में जिन बड़ी बड़ी घटनाओं के वर्णन हैं उन सबों में प्रायः नारद का उल्लेख मिलता है। नारद विरक्त महात्मा हैं पर संसार के कामों में सदा उन्होंने योग दिया है।

एक बार नारदजी व्यासजी के आश्रममें गये। व्यासजीका आश्रम सरस्वती तीरपर था। वहीं वीणावादन लोलुप देवर्षि नारद पहुँचे। व्यासजी ने बड़ी श्रद्धा से इनका आदर सत्कार किया, आसन दिया। नारद सुखपूर्वक आसन पर बैठे। इन्होंने देखा कि व्यासजी का मुखमण्डल मलीन है, प्रसन्नता का नाम भी नहीं है। यह देख नारदजी ने पूछा—"ब्रह्मर्षि व्यास! आपने इतने बड़े महाभारत नाम के ग्रन्थ का निर्माण

किया है, जिसमें संसार का ज्ञान आपने भर दिया है, आप ब्रह्मवेत्ता हैं, फिर भी आप अप्रसन्न क्यों हैं ? आपका मुख-मण्डल मलीन क्यों हैं ? आपके हृदय में शोकाग्नि क्यों जल रही है ? मुझे मालूम होता है कि महाभारत बनाकर भी आप सन्तुष्ट नहीं हुए।"

व्यासजी ने कहा–"देवर्षि प्रवर ! जो आप कहते हैं वह बिलकुल सत्य है। महाभारत बनाकर भी मेरा मन शांत नहीं हुआ।" नारद ने कहा–'ब्रह्मर्षि ! मैं आपकी अशांति का एक कारण समझता हूं। आपने महाभारतमें भगवद्गुणानुवाद नहीं किया है। आपने सब ज्ञान अपने ग्रन्थ में भरा है अवश्य पर उसमें आपने भगवद्गुण कीर्तन नहीं किया है। भगवद्गुणा-नुवाद ही इस धराधामको पवित्र करनेवाली उत्तम वस्तु है अब आप एक ऐसा ग्रन्थ बनावें जिसमें भगवान का गुणानुवाद हो जिसमें भगवद्यश गाया गया हो, जिसमें भगवान के चरणों की महिमा बतलायी गयी हो, जिसमें भगवान की दयालुता, भगवान की भक्तवत्सलता का वर्णन हो।'

इतना कहने के पश्चात् व्यास देव के मन को शांत करने के लिये उन्होंने अपने पूर्वजन्म का वृतांत कहा जो भगवत्कृपा से नारदने जाना था। नारदने कहा–'पूर्वजन्म में मैं एक मुनिका दासी पुत्र था। उस मुनिके आश्रम में जा चातुर्मास्य विताने के लिये अनेक ऋषि मुनि प्रति वर्ष आया करते थे। एक साल सनकादिक ऋषि उस आश्रम में आये। उनकी सेवा करने के लिये मुनिने मुझे नियत किया। मैं बड़ी श्रद्धा भक्तिसे उनकी

सेवा करता था। वे मुझे मितभाषी, इन्द्रियजीत्, अचपल और कार्यतत्पर देखकर मुझपर बहुत प्रसन्न हुए। उनका कृपाभाव मेरे ऊपर बढ़ने लगा। मैं मुनियों का उच्छिष्ट भोजन करता था। जिससे मेरी बुद्धि शुद्ध हुई और धर्मकी ओर झुकने लगी। तबसे हरिगुण कीर्तन में मुझे आनन्द आने लगा। परमात्माके विषयमें मेरी धारणा दिनों दिन दृढ़ होती गयी। ऋषिगण भगवान के निर्मल यशका गान करते थे। भगवान के विषयमें तर्क वितर्क किया करते थे, यह सब मैं बड़े ध्यानसे सुनता था। इससे मेरे हृदय में भगवद्भक्ति का उदय हुआ। महर्षियों ने दया पूर्वक मुझे अधिकारी देखकर भगवानके गुप्ततम मंत्रों का उपदेश दिया। मैं भगवद्भक्ति का साधन करने लगा। मुनियोंने मुझे देशाटन करने की आज्ञा दी। मैं अपनी माताका एकही पुत्र था। मेरी माता असहाय थी। उसे मुझे छोड़ दूसरा कोई अवलम्ब न था। अतएव उसका मुझ पर बड़ा मोह था। मैं प्रतिदिन महात्माओं की आज्ञा से जप, तप, भगवद्भजन, ध्यान आदि किया करता था इससे मेरे हृदय में इसका प्रसार हुआ। वनमें जाकर तपस्या करने की मेरी इच्छा हुई पर मेरी माता एक क्षणके लिये भी मुझे अपनी आंखों से ओझल नहीं होने देती थी। कोई गति न देखकर मैं अपनी माता को साथ लेकर देशाटन के लिये निकला। रास्ते में माता को सांपने काटा जिससे वह मर गयी। माता की मृत्यु से मैं बहुत प्रसन्न हुआ क्यों कि वही मेरे साधन में एक बहुत बड़ा विघ्न थी। भगवत्कृपासे वह विघ्न दूर हो गया। यद्यपि

उस समय मेरी अवस्था छोटी थी पर मैं निर्भय होकर भगवत् स्वरूप का चिंतन करता हुआ उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा। रास्ते में अनेक सुन्दर नगर, धनियोंके अनेक महल, बाग, उपवन, नदी, तालाब मैं ने देखे। मैं आगे ही बढ़ता गया। जाते जाते मैं एक बहुत ही बड़े और घने वनमें पहुंचा। उसमें एक तालाब था। उसके तीर पर मैं बैठ गया। उस समय मैं बहुत थक गया था। हाथ पैर शिथिल पड़ गये थे। आगे चलने की इच्छा न होती थी। भूख प्यास अलग ही सता रही थी। मैंने उस तालाब में स्नान किया और थोड़ा जल पिया। इससे शरीर में बलका कुछ संचार हुआ। वहां से थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर मुझे एक पीपल का वृक्ष मिला। उसी के नीचे बैठ कर मैं भगवान का भजन करने लगा। ध्यान करते करते मैं बेसुध होगया। बाह्यसंज्ञा लुप्त होगयी। उसी समय एक बार मुझे परमात्मा का दर्शन हुआ। थोड़ी ही देरके बाद वह मूर्ति लुप्त हो गयी। उस समय मैं बहुत व्याकुल हुआ। मेरी उत्कण्ठा बढ़ने लगी। मेरे हृदयमें भगवान का एक बार फिर दर्शन करने की इच्छा बड़ी प्रबल हुई। मैंने फिर ध्यान किया। पर, भगवान के दर्शन न हुए। उसी समय आकाशवाणीने कहा—वत्स! इस जन्म में अब तुम इस मूर्ति का दर्शन नहीं कर सकते। तुम्हारे प्रेमको बढ़ाने के लिए ही मैंने एकबार अपना दर्शन दिया है। निष्काम चित्तसे ध्यान योगके द्वारा धीरे धीरे योगी गण मेरा साक्षात्कार पाते हैं। अभी तुम महात्माओं की सेवा करो जिससे मुझपर तुम्हारी

भक्ति दृढ़ हो। इस देहके अंत होनेपर तुम हमारे लोक में आवोगे, उस समय तुम्हें नित्य हमारा दर्शन होगा और पूर्व जन्म का ज्ञान भी बना रहेगा। तुम साधन करते जाओ और समय की प्रतीक्षा करो। यह कह कर भगवान ने मुझे एक वीणा दी। उसी वीणा को बजाता हुआ मैं सब जगह घूम कर भगवत् रूप का चिंतन करने लगा। इस प्रकार घूमता घामता मैं शिविदेश की राजधानी में पहुंचा। वहां की रानी कैकेयीने मेरा बड़ा आदर सत्कार किया। वहीं पर्वत ऋषिसे मेरी भेंट हुई। हम दोनों वहां बहुत दिनों तक रहे। हम दोनों जो कुछ सोचते विचारते थे वह आपस में प्रकट कर देते थे। वहां के राजा को एक कन्या थी जिसका नाम दमयंती था। पर्वत ऋषिने राजा से कहाकि आप अपनी कन्या से मेरा विवाह कर दें। राजाने कहा मेरी पुत्री का विवाह उससे होगा जिसका विवाह न हुआ होगा अर्थात् जो कुआँरा होगा। यह सुनकर पर्वत ऋषिने राजा की पुत्री के साथ अपने विवाह की आशा त्याग दी। मुझे भी इन बातों की खबर लगी। मैंने भी दमयंती से अपने विवाह का प्रस्ताव किया। यह बात मैंने पर्वत से नहीं कही। पर किसी तरह पर्वत को वह मालूम हो गयी। उन्होंने मुझे शाप दिया कि—तुम्हारा मुंह विकृत हो जाय। मैंने भी उन्हें शाप दिया कि स्वर्ग में जानेकी तुम्हारी शक्ति नष्ट हो जाय। यह शाप सुनकर पर्वत ऋषि पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने निकले। राजपुत्री को जब यह बात मालूम हुई कि उसीके कारण मेरा मुंह विकृत हुआ है तब उसे बड़ी

दया आयी और वह आकर मेरी सेवा करने लगी। बहुत दिनों के पश्चात् पर्वत पृथ्वी प्रदक्षिणा कर के लौटे। उन्होंने अपना शाप हटा लिया। मैं ने भी अपना शाप हटा लिया। पीछे राजाने भी अपनी कन्या का विवाह मेरे साथ कर दिया। मैं सदा भगवान का ध्यान करता था। उनके ध्यान में ही मैं ने शरीर त्याग किया। तदनन्तर भक्तवत्सल भगवानकी कृपासे मैं ब्रह्माका मानस पुत्र हुआ, तब से मैंने व्याह नहीं किया। मैं सदा वृहती नामकी अपनी वीणा बजाता रहता हूं। भगवान की कृपा से ही मुझे अपने पूर्वजन्म की कथा याद है, इतना कह महर्पि नारद चुप हो गये। नारद के इस उपदेश से प्रसन्न होकर व्यास देवने भागवत नामक भगवद्गुणानुवादपूर्ण एक ग्रंथ बनाया। छान्दोग्योपनिषद् में नारद-सनत्कुमार संवाद नामक एक मनो रंजक कथोपकथन है।

महर्षि वशिष्ठ।

महर्षि वशिष्ठ का जन्म स्वायम्भुव मन्वन्तर में हुआ था। ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में से एक ये भी थे। ये बड़े ऊँचे ज्ञानी, तपस्वी और विद्वान थे। कहते हैं कि महादेव के शाप से ब्रह्मा के इन दस मानस पुत्रों का नाश हो गया था। अतएव वैवस्वत मन्वन्तर में ब्रह्मदेव ने पुनः दस मानस पुत्रों की सृष्टि की। उनमें एक पुत्र का नाम वशिष्ठ था। ये कर्म काण्ड के बड़े भारी पण्डित थे। सूर्यवंशी इक्ष्वाकु कुल के राजाओं ने इन्हें अपना कुल गुरु बनाया था। अक्षमाला नाम की स्त्री के साथ इनका विवाह हुआ था। राजा निमि ने जितने यज्ञ किये उन सब यज्ञों में आचार्य का पद वशिष्ठ को ही मिला था। एकबार वशिष्ठ इन्द्र के यहां यज्ञ करा रहे थे। उसी समय निमि ने भी यज्ञ करने की ठानी। राजा ने वशिष्ठ के यहां यह खबर भेजी। वशिष्ठ ने कहला भेजा कि ठहरिये, मैं इन्द्र का यज्ञ समाप्त कर आता हूँ।' पर निमि ने वैसा नहीं किया। इन्होंने गौतम ऋषि को बुलाया और उन्हें आचार्य बनाकर यज्ञ करना प्रारम्भ किया। यज्ञ समाप्त होने पर वशिष्ठ जी राजा के यहां गये, जाकर इन्होंने देखा कि यज्ञ प्रारम्भ है। वशिष्ठ को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने राजा को शाप दिया कि 'तुम्हारी मृत्यु हो जाय।' राजा ने भी वशिष्ठ को मरने का शाप दिया।

इस अप्रिय घटना से लोगों को बड़ा कष्ट हुआ। ब्रह्मा भी बहुत दुःखी हुए। ब्रह्मा ने वशिष्ठ देव को पुनः उत्पन्न करने का

विचार किया। सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा ने मित्रावरुण ऋषि के यहां वशिष्ठ के जन्म लेने की व्यवस्था की। वशिष्ठ देव का यह तीसरा जन्म हुआ। इस बार अरुन्धती नाम की ऋषि कन्या से इनका विवाह हुआ था। ये पति पत्नी उस समय के ऊँचे ज्ञानी थे। वशिष्ठजी अपनी तपस्या के कारण प्रसिद्ध थे और अरुन्धती की प्रसिद्धि इनके पातिव्रत्य के कारण थी। अरुन्धती का शास्त्र ज्ञान भी अगाध था। कहा जाता है कि अरुन्धती ने वेदों के भाष्य बनाये थे। पर, इस समय वे भाष्य अप्राप्य हैं। वशिष्ठ जी ने ही अरुन्धती को ज्ञान सम्पन्न बनाया था। वशिष्ठजी के अरुन्धती के गर्भ से शक्ति आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनका आश्रम हिमालय के शिखर पर था.वहीं ये अपने शिष्यों तथा कुटुम्ब के साथ रहते थे। विद्याध्ययन के लिये अनेक ऋषि, राजा और राज पुत्र आदि इनके यहां आते थे। वशिष्ठ अपने समय के विख्यात पण्डित थे।

इनके पास एक अद्‌भुत गौ थी। वह कामधेनु की कन्या थी। उसका नाम नन्दिनी था। कामधेनु गौ का ऐसा प्रभाव होता है कि वह समस्त इच्छाओं की पूर्ति करती है। वशिष्ठ जी भी समय समय पर अपनी उस नन्दिनी गाय से अपनी इच्छा की पूर्ति कर लिया करते थे। वशिष्ठ देव के आश्रम पर जब कोई प्रख्यात अतिथि आता था तब वे अतिथि सेवा का भार उसी गौ के जिम्मे कर देते थे। एकबार राजा विश्वामित्र इनके आश्रम पर आये। महर्षि ने उनके स्वागत का भार नन्दिनी को सौंप दिया। उसने उनका ऐसा स्वागत सत्कार

किया जैसा किसी सम्राट के यहां किया जा सकता था। राजा को यह देख बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे इस बात का पता लगाने लगे कि आखिर इतना प्रबन्ध हुआ तो कैसे हुआ। अंत में उन्हें जब उस गाय का रहस्य मालूम हुआ तब उन्होंने वह गाय महर्षि से मांगी। महर्षि ने उन्हें गाय न दी। यही दोनों के विरोध का कारण हुआ।

राजा विश्वामित्र ने सैनिकबल के द्वारा वह गाय ले जानी चाही पर उसमें जब उन्हें बुरी तरह हार खानी पड़ी तो वे महर्षि बनकर वह गाय प्राप्त करने की कोशिश करने लगे। बड़ी तपस्या के बाद जब उन्होंने सभी सांसारिक मोह ममता का त्याग कर दिया तब वे महर्षि बने पर उस समय उन्हें गाय की इच्छा न रह गयी।

सभी चाहते हैं कि अच्छी चीज हमारे ही पास रहे। इसी लिये जिसके पास अच्छी चीज होती है वह यदि बलवान हुआ तब तो कोई चिंता नहीं और यदि दुर्बल हुआ तो वह सदा सशंकित बना रहता है। वह अपनी चीज छिपाये रखता है जिसमें कोई देख न ले। वशिष्ठजी के पास जो नन्दिनी गौ थी वह बड़ी अद्भुत थी। सभी उसको चाहते थे। पर वशिष्ठ को उसके लिये कोई चिंता न थी। वे उसको छिपाये नहीं रखते थे क्योंकि वे उसकी रक्षा करने की शक्ति रखते थे। एक दिन वशिष्ठजी आश्रम पर नहीं थे। वे कहीं बाहर गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति में आठों वसुगण आश्रम में आये और नन्दिनी को चुरा कर चले गये। जब

वशिष्ठजी अपने आश्रम पर लौट आये तब इनको मालूम हुआ कि नन्दिनी नहीं है। कोई उसे ले गया। वशिष्ठजी बड़े चिंतित हुए उन्होंने नन्दिनी के ले जाने वालों को शाप दिया। वशिष्ठ के शाप से वसुगण व्याकुल हुए और वे लोग दौड़े दौड़े वशिष्ठजी के पास आये। नन्दिनी वशिष्ठजी को सौंप कर उन लोगों ने अपने अपराधों की क्षमा मांगी। वशिष्ठजी को दया आयी और उन्होंने वसुओं को शाप मुक्त कर दिया।

देवताओं में भी महर्षि वशिष्ठ की बड़ी प्रतिष्ठा थी। यह बात नीचे लिखी घटना से अच्छी तरह प्रमाणित हो जायगी। सुदास नाम के एक राजा वशिष्ठ के यजमान थे। एक बार सुदास पर दस राजाओं ने एक साथ ही चढ़ाई की। सुदास इतने प्रबल आक्रमण को संभाल न सका। उसने वशिष्ठजी से अपनी रक्षा की प्रार्थना की। वशिष्ठजी ने इन्द्र के यहां जाकर उसकी सहायता की प्रार्थना की। इन्द्र ने वशिष्ठजी की प्रार्थना स्वीकार की और सुदास को सहायता देकर उनकी रक्षा की। ऋग्वेद में इस बात का उल्लेख है। यह महर्षि वशिष्ठ के प्रभाव का प्रमाण है।

वशिष्ठजी राजा दशरथ के भी पुरोहित थे। वे उनकी राज्य सभा के सदस्य भी थे। एक प्रकार से वे इस वंश के प्रधान मंत्री थे। ऐसा कोई बड़ा काम नहीं हुआ जो इन से बिना पूछे किया गया हो। पुत्रेष्टि यज्ञ के समय, श्रीराम आदि को मांगने के लिये विश्वामित्रजी आये उस समय, वनवास के समय, इस प्रकार ऐसा कोई भी बड़ा काम इस

कुल में नहीं हुआ जिसमें वशिष्ठजी न हों। वशिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्र आदि को विद्याएँ पढ़ायी थीं, उन्हें राजनीति की शिक्षा दी और रामचन्द्र का राज्याभिषेक किया।

योगवाशिष्ठ नाम की एक वेदान्त की पुस्तक वशिष्ठ के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ महर्षि वशिष्ठ का बनाया है। श्रीरामचन्द्र को जब मोह हो गया था तब वशिष्ठजी ने उन्हें उपदेश दिया था और यही उपदेश योग-वाशिष्ठ नाम से प्रसिद्ध है। पर यह बात प्रामाणिक नहीं है। वशिष्ठ स्मृति और वशिष्ठ संहिता नामक ग्रन्थ वशिष्ठ के बनाये हैं। इनके बनाये ग्रन्थों में धर्म, नीति, तप आदि की महिमा का वर्णन है। महर्षि वशिष्ठ कई सम्प्रदायों के आचार्य समझे जाते हैं। कहते हैं कि सनकादिक ने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की थी वशिष्ठजी ने उसी का पुनरुद्धार किया था।

एक बार विश्वामित्र के क्रोध में पड़कर वशिष्ठजी के सौ पुत्र भस्म हो गये थे। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ था और ये प्राण त्याग करने के लिये नदी में कूद पड़े थे, पर नदी ने इन्हें ग्रहण नहीं किया। ये नदी से जीते-जागते निकले। तब वशिष्ठजी पर्वत से कूदने के लिये चले। उसी समय इन्हें वेद ध्वनि सुनायी पड़ी और वह ध्वनि शक्ति के समान थी। इन्होंने पीछे फिरकर देखा कि इनकी पुत्रवधू-शक्ति की स्त्री आ रही है। शक्ति की स्त्री ने कहा—पिताजी! आप अधीर क्यों होते हैं, आपके वंश की रक्षा करने वाला गर्भ वर्तमान है। यह सुनकर वशिष्ठजी ने प्राणत्याग करने का विचार छोड़ दिया। उसी गर्भ से शक्ति के पुत्र पराशर उत्पन्न हुए।

राजा दिलीप को पुत्र नहीं होता था। राजा एक वार किसी कार्यवश कहीं जा रहे थे। रास्ते में वह गाय मिली पर बिना उसकी प्रदक्षिणा किये ही राजा चले गये। इससे गाय का अपमान हुआ जिससे क्रुद्ध होकर उसने शाप दिया था। शास्त्रों में लिखा है कि देव, देववृक्ष, ब्राह्मण, गौ आदि के रास्ता में मिलने से उसकी प्रदक्षिणा करके जाना चाहिये। राजा अपने गुरु वशिष्ठजी के पास गये और उन्होंने अपना दुःख निवेदन किया। वशिष्ठजी ने योग के द्वारा राजा के मनोरथ पूरा न होने के कारण ढूंढे। ज्ञात होने पर उन्होंने कहा—राजन्! आप से एक वार अनजान में कामधेनु का अपमान हो गया है। इसीसे कामधेनु ने आपको शाप दिया है और वही आपके पुत्र न होने का कारण हो रहा है। अतएव आप मेरी इस गौ की सेवा करें, यह कामधेनु की ही कन्या है। उसके प्रसन्न होनेसे आपके सभी शाप दूर हो जायँगे। राजा दिलीप ने वशिष्ठ के कहने के अनुसार काम किया और वे सफल मनोरथ हुए। महर्षि वशिष्ठ सप्तर्षि मण्डल के एक प्रधान सदस्य हैं। इन्होंने इस संसार का बड़ा उपकार किया है। सदा धर्मोपदेश करना, धर्म के अनुसार चलना, धर्म की मर्यादा स्थापन करना, राजाओं को राजधर्म, प्रजाओं को प्रजा कर्त्तव्य बतलाना इनका मुख्य काम रहा है। ये न तो राजा का अत्याचार देख सकते थे और न प्रजा की अधार्मिकता।

महर्षि विश्वामित्र।

महर्षि विश्वामित्र पहले एक क्षत्रिय राजा थे। ये कान्यकुब्ज के राजा गाधि के पुत्र थे। पर इन्होंने अधिक दिनों तक राजकाज नहीं किया। एक बार एक ऐसी घटना होगयी जिससे इनके जीवन का क्रम ही पलट गया। एक समय वे शिकार खेलते हुए महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में आये। इनके साथ अनेक सैनिक तथा राजकर्मचारी थे। महर्षि वशिष्ठ ने इनके सत्कार का भार नन्दिनी को सौंपा। नन्दिनी ने अपने प्रभाव से उन लोगों का उत्तम सत्कार किया। राजा विश्वामित्र को यह देखकर वड़ा आश्चर्य हुआ। वे इस वात का विचार करने लगे कि महर्षि को ये वस्तु कहाँ मिलीं। इस छोटी सी कुटिया में इन्होंने कैसे और कहाँ से ये चीजें सजा रखी हैं। राजा ने पता लगाया। उन्हें मालूम हुआ कि महर्षि के पास एक गौ है जिसके प्रभाव से ये सब वस्तु उन्हें अनायास मिल जाती हैं। राजा ने ऋषि से कहा कि—नन्दिनी गौ आप हमें दे दें यह राजाओं के पास रहने लायक है। इसके वदले में जितनी गौ आप कहें मैं लाकर दूं।' ऋषि ने कहा—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मैं उसके दूध से याग, यज्ञ आदि किया करता हूँ, उसके विना मेरी सव क्रियाएं लुप्त हो जायेंगी।' तव राजा जवर्दस्ती गौ ले जाने को तैयार हुए। उन्होंने नौकरों को आज्ञा दी कि जवर्दस्ती इस गाय को अपने साथ ले चलो। नौकरों ने अपने राजा की आज्ञा का पालन किया।

मालूम नहीं दूसरों की वस्तुओं पर राजाओं को अधिकार कहाँ से मिला। साधारण लोगों की समझ है और सदाचार शास्त्र का यह नियम है कि किसी की वस्तु न ली जाय। दूसरे की वस्तु लेना पाप है, अपराध है। राजा लोग भी इस बातको न समझते हों ऐसी बात नहीं है। अपराधियों को दण्ड देना राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। चोरी करना अपराध है। यदि वशिष्ठजी की गौ कोई दूसरा चुरा कर ले जाता और वह पकड़ कर राजा विश्वामित्र के न्यायालय में उपस्थित किया जाता, तो अवश्य ही ये ही विश्वामित्र उसे अपराधी बताते और उसे दण्ड भी देते। पर, न मालूम क्यों किस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार इन्होंने महर्षि की गौ छीनना निश्चित किया। राजा के पास सेना थी, अस्त्र, शस्त्र थे। साधारण लोग इन बातों से डर जाते हैं। पर वशिष्ठजी के पास सेना न थी, अस्त्र शस्त्र न थे। तथापि वे दुर्बल न थे। उनके पास ब्रह्म बल था। ब्रह्मबल के द्वारा उन्होंने राजा विश्वामित्र की सेना का बल स्तम्भित कर दिया। राजा ने बहुत प्रयत्न किया पर ऋषि बल के सामने उनका राज बल कोई काम न आया। राजा का मनोरथ पूरा न हो सका। वे हार गये। हार बड़ी बुरी होती है। निर्बल मनुष्य हार जाने पर प्राण घात करके हार के दुःख से छुटकारा पाता है और सबल मनुष्य हार कर बदला लेने के लिये शक्ति संचय करता है, बल संचय करता है। राजा विश्वामित्र दुर्बल न थे। ये बलवान राजा थे। इन्होंने अपनी हार पर

विचार किया। विचार करने से इन्हें मालूम हुआ कि क्षत्रिय बल से ब्रह्म बल बलवान है। अतएव इन्होंने क्षत्रिय बल को धिक्कारा और ब्रह्म बल की प्रशंसा की—धिग् बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्म तेजो बलं बलम्।

राजा विश्वामित्र अब महर्षि विश्वामित्र होने के लिये प्रयत्न करने लगे। इन्होंने राज्य छोड़ा, राजसी ठाट बाट से मुँह मोड़ा और हिमालय के वन में तपस्या करने चले गये। विश्वामित्र जी को गहरी लगन थी अपने उद्देश्य की सिद्धि से। इन्होंने घोर तपस्या की। तपस्या से देवता प्रसन्न हुए। देवताओं ने आकर विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि का पद दिया। विश्वामित्र प्रसन्न हुए। देवताओं ने कहा—ब्रह्मर्षि विश्वामित्र! अब आप को ब्रह्मर्षि मण्डल में मिलने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि जब तक ब्रह्मर्षि मण्डल आप को ब्रह्मर्षि न मानेगा तब तक हम लोगों की ओर से ब्रह्मर्षि होकर भी आप ब्रह्मर्षि न हो सकेंगे। नीति की यह बात विश्वामित्र जी की समझ में आ गयी। वे ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जीके पास गये। क्योंकि वे ही उस समय ब्रह्मर्षि मण्डल के प्रधान थे। महर्षि वशिष्ठ के पास जब विश्वामित्र जी पहुँचे तब उनके हृदय में जीत जाने का अहंकार था। अहंकार ब्रह्मर्षियों के लिये कितना घातक है, यह उन्हें कितना नीचे गिराने वाला होता है, इसकी खबर भी विश्वामित्र को शायद उस समय तक न थी। विश्वामित्र को उस रूप में देख कर महर्षि वशिष्ठ ने कहा—'आइये राजर्षि जी!' हाय गजब हो गया। विश्वामित्र जी ने

समझा था कि अब हमको वशिष्ठ जी आदर की दृष्टि से देखेंगे और ब्रह्मर्षि कहेंगे। उस समय हमको भी अपनी विजय पर गर्व करने का अवसर मिलेगा। पर, वशिष्ठ जी के पास आने पर और उनके द्वारा राजर्षि जी के नाम से सम्बोधित होने पर विश्वामित्र जी की जैसी दशा हुई होगी भगवान करे वैसी दशा किसी की न हो। विश्वामित्र जी क्रोध से अधीर हो गये। वे वहाँ से पैर पटकते चले गये।

महर्षि वशिष्ठ और विश्वामित्र जी का सम्बन्ध इस घटना के पीछे दूसरे रूप में होगया। पहले विश्वामित्रजी अपने को वशिष्ठजी से छोटा समझते थे। पहले उन्हें अपने क्षत्रियवल की हीनता का दुःख था, पर इस घटना से वह भाव नहीं रहा।

अब विश्वामित्र जी अपने को वशिष्ठजी से किसी तरह कम नहीं समझते थे। अब उन्हें अपनी हीनता का अनुभव नहीं होता था किंतु, वे अपने को ब्रह्मर्षि समझते थे और वशिष्ठजी को भी। देवताओं ने विश्वामित्र जी को ब्रह्मर्षिका पद दे दिया। पर, अब वशिष्ठ जी उसमें वाधक हो रहे हैं, यह सोच कर ये वशिष्ठजी से द्वेष करने लगे। उन्हें नीचा दिखाने को तरह तरह का प्रयत्न करने लगे। संयोगवश एक अवसर भी मिल गया।

उस समय अयोध्या में राजा त्रिशंकु राज्य करते थे। ये बड़े धर्मात्मा राजा थे। एक बार इसी शरीर से इन्हें स्वर्ग देखने की इच्छा हुई। ये अपने कुल गुरु वशिष्ठजी के यहां

गये और अपना मनोरथ इन्होंने निवेदन किया। इन्होंने कहा महाराज! कोई ऐसा याग; यज्ञ वतलाइये, कोई ऐसी क्रिया वतलाइये या आपही कोई ऐसा अनुष्ठान कीजिये जिससे मैं इसी देह से स्वर्ग जा सकूं। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—भाई, ऐसा कोई उपाय नहीं और न कोई ऐसा याग—यज्ञही मुझे मालूम है जिससे इसी शरीर से तुम स्वर्ग जा सको। राजा वहां से चले गये, पर स्वर्ग देखने की उनकी इच्छा बड़ी प्रवल थी। वे वशिष्ठजी के शिष्यों के पास गये। उन लोगों ने जब राजाका अभिप्राय सुना और यह भी सुना कि गुरुने कहा है कि इसके लिये कोई उपाय नहीं है तब उन लोगों को क्रोध आया। उनलोगोंने कहा—'गुरुकी वातों पर तुम्हारा विश्वास नहीं, तुम्हारा यह आचरण म्लेच्छों के समान है अतएव तुम म्लेच्छ हो जाओ। राजा उससे वड़ा दुःखी हुआ। वह अपने घर लौट गया।

विश्वामित्र जी भी कोई अवसर ढूंढ़ ही रहे थे। त्रिशंकु और वशिष्ठ जी के वीच जो वातें हुई उनकी खवर पातेही विश्वामित्र जी वड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि बड़ा अच्छा अवसर मिला। इससे कुछ लाभ उठाना चाहिए। वे त्रिशंकु से मिले और यज्ञ कराने और इसी शरीर से स्वर्ग भेजने का वादा किया। राजा भी तैयार हो गया। एक तो स्वर्ग जाने की उसकी प्रवल इच्छा थी ही, दूसरे वशिष्ठजी पर उसे क्रोध होगया था। इस कारण वह चाहता था कि यदि ऐसा कोई मिल जाय जो मुझे यज्ञ कराकर स्वर्ग भेज सके तो वहुत

अच्छा हो। इससे एक तो मेरी इच्छा पूरी होगी दूसरे वशिष्ट जी का अभिमान चूर होगा। यही सोचकर विश्वामित्र जी के कथनानुसार यज्ञ करने के लिये राजा भी तैयार हो गया। सव सामग्रियां तैयार की गयीं। यथा समय यज्ञ प्रारंभ हुआ। देवताओं को यज्ञ में आनेका आवाहन किया गया पर देवता न आये। उनलोगों ने कहा—जिस यज्ञमें यजमान म्लेच्छ है और आचार्य क्षत्रिय है उस यज्ञ में हम लोग न जायेंगे।

देवताओं की इस वात से विश्वामित्रजी का क्रोध और वढ़ गया। उन्होंने कहा—देवता भी वशिष्ठजी की तरफदारी करते हैं। अच्छा, देखा जायगा। किसी किसी तरह यज्ञ समाप्त किया। पर इस यज्ञ समाप्ति से त्रिशंकु भले ही प्रसन्न हो जांय, विश्वामित्रजी भी भले ही अपने आचार्य वनने का गर्व कर लें पर यदि सच पूछा जाय तो यज्ञ होना न होना दोनों वरावर हुआ। क्योंकि यज्ञ किया जाता है देवताओं के लिये पर जव देवता ही नहीं आये तव कैसा यज्ञ और फिर कैसी उसकी समाप्ति, अव वात रही राजा त्रिशंकु के इसी शरीर से स्वर्ग जाने की। विश्वामित्रजी ने उन्हें अपना तपोवल देकर स्वर्ग भेजा। त्रिशंकु को म्लेच्छ समझ कर देवताओं ने स्वर्ग से ढकेल दिया और उन्हें वहां जाने ही न दिया। त्रिशंकु नीचे गिरने लगा तो विश्वामित्रजी का नाम ले ले कर चिल्लाने लगा कि—'प्रभो! देवता लोग मुझे स्वर्ग में जाने नहीं देते और नीचे ढकेल दिया है।' विश्वामित्रजी ने

उन्हें पुकार कर कहा-'वहीं ठहर जाओ।' अब त्रिशंकु बीचमें ही लटक गया। न स्वर्ग में जा सका न नीचे ही गिरने पाया।

इस झगड़े में भी जब विश्वामित्रजी को नीचा देखना पड़ा तो उनका क्रोध और बढ़ा। यदि वास्तव में देखा जाय तो विश्वामित्रजी उस समय क्रोधसे पागल हो गये थे। इन्होंने अब हर तरह से वशिष्ठजी का विरोध करने ही का निश्चय कर लिया। यहाँ तक कि उचित और अनुचित तक का भी इन्होंने ध्यान छोड़ दिया। जो वशिष्ठ कहें उससे उलटा कहना, जो वे करें उसका उलटा करना, यहां तक उनकी नीति होगयी। सत्यव्रत राजा हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध धर्मात्मा थे। उन्होंने एक यज्ञ किया। वशिष्ठजी उस यज्ञके आचार्य थे। यज्ञ समाप्त होने पर वशिष्ठजी अपने आश्रम पर जा रहे थे। रास्ते में विश्वामित्रजी मिले। इन्होंने पूछा-'आप कहां से आ रहे हैं।'

वशिष्ठजीने कहा—सत्यव्रत राजा हरिश्चन्द्र का यज्ञ कराकर आया हूँ। क्या ही धर्मात्मा राजा है। उसके समान आज इस भूमण्डल में कोई दूसरा सत्यवादी नहीं है।

विश्वामित्रजी—आप झूठ कहते हैं। वह तो बड़ा भारी दाम्भिक है, झूठा है।

वशिष्ठजी चुप हो गये।

. विश्वामित्रजी ने कहा—अच्छा देखो, मैं उसकी असत्य-वादिता सिद्ध किये देता हूँ।

अब विश्वामित्रजी राजा हरिश्चन्द्र के पीछे पड़ गये। उन्हें कष्ट देने के लिये इन्होंने तपस्या की, तरह तरह के उपाय किये। उन्हें कष्ट देने के लिये विश्वामित्रजी ने स्वयं कितने कष्ट उठाये ये बातें हरिश्चन्द्र की जीवन घटनाओं को जानने वालों से छिपी नहीं है। पर इस सम्बन्ध में भी इन्हें ही हारना पड़ा। इससे भी विश्वामित्रजी के क्रोध का पारा-वार न रहा। इन्होंने एक राक्षस को ललकारा देकर वशिष्ठजी के सौ लड़कों को मरवा डाला। इतने पर भी उन्होंने विश्वा-मित्रजी को ब्रह्मर्षि पद के योग्य न समझा। बात भी ठीक थी। इतना क्रोध और बदला लेने की प्रवृत्ति वाला भला ब्रह्मर्षि पद के योग्य कब हो सकता है। वशिष्ठजी का विश्वामित्रजी से कोई द्वेष न था। पर अपने ब्रह्मज्ञान के बल से वे जानते थे कि इनके मनमें अभी सात्विक भाव नहीं आये थे जिनकी ब्रह्मर्षि होने के लिये अत्यन्त आवश्यकता है। विश्वामित्रजी ने अपनी कमजोरी का विचार नहीं किया और उलटे वशिष्ठ जी पर ही क्रोध करने गये। इन्होंने इस बात की वास्तविकता का पता न लगाया कि वशिष्ठ जी उन्हें ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते। इस विषय में उन्होंने जो कुछ सोचा भी तो उसका उलटा ही अर्थ लगाया जिससे उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े और उनको स्वयं कई बार नीचा देखना पड़ा। बार बार हार खाने से विश्वामित्र जी बहुत अधीर हो गये। इन्होंने अपनी रही सही सुध बुध खो दी। एक दिन तो इनका क्रोध यहाँ तक बढ़ा कि वशिष्ठ जी को मार

कर ही इन्होंने इस झगड़े का अन्त कर देना चाहा। इन्होंने सोचा-वशिष्ठ तो हमारे ब्रह्मर्षि बनने में बाधक हो रहा है। यदि वही नहीं रहा तो कौन बाधा डालेगा क्योंकि ब्रह्मा आदि ने तो हमें ब्रह्मर्षि स्वीकार ही कर लिया है। यह विचार कर एक दिन रात में वे छिप कर उन्हें मारने चले। उस समय स्वार्थ से वे बावले हो रहे थे। तभी तो ब्रह्म हत्या कर ब्रह्मर्षि बनने की इच्छा रखते थे।

रात में वशिष्ठजी सोने की तैयारी कर रहे थे। उनकी पत्नी अरुन्धती उनके पास ही बैठी थी। पूर्णिमा तिथि थी। चन्द्रमा का प्रकाश बड़ा भला मालूम होता था। ऋषि-पत्नी ने वशिष्ठजी से कहा—

"महाराज देखिये चन्द्रमा का प्रकाश कितना शीतल और सुन्दर मालूम होता है। अच्छा महाराज कहिये, क्या आज कल कोई ऐसा भी तपस्वी है जिसकी तपस्या चन्द्रमा के प्रकाश की तरह शुभ्र और शीतल हो ?"

वशिष्ठजी ने कहा-हां, वैसे तपस्वी विश्वामित्रजी हैं। इस समय विश्वामित्रजी के समान तपस्वी मेरी समझ से तो दूसरा कोई नहीं है।

अरुन्धती-महाराज जब ऐसी बात है तब आप उन्हें ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते ?

वशिष्ठ ने कहा-देवि ! उनके हृदय में क्षात्रभाव वर्तमान है। अभी उनके मन में रजो गुण की मात्रा अधिक अंश में

वर्तमान है। ब्रह्मर्षि होने के लिये मनको सात्विक बनाने की आवश्यकता है।

कुटी के भीतर ये बातें हो रही थीं और कुटी के बाहर एक आदमी बैठा था जो वशिष्ठ जी को मारना चाहता था। महर्षि वशिष्ठ घर में बैठकर जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं वही वशिष्ठकी कुटी के बाहर बैठ कर उन के मारने का बाट देख रहा है। इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में कितना अन्तर है। क्या ये दोनों एक लोकके जीव मालूम हो सकते हैं।

बाहर बैठे विश्वामित्र जी ने भीतर की सब बातें सुनलीं तो उनका अज्ञान दूर हुआ। अब इन्हें अपने असली रूप का पता चला। इन्होंने अपने मनमें कहा—'कहां वशिष्ठ और कहां मैं! मैं ब्रह्म हत्या करने जारहा हूं और वे क्षमा की मूर्ति अपने सौ पुत्रोंके मारे जाने का शोक भूल कर मेरी प्रशंसा कर रहे हैं! मैं नर्कका द्वार खोल रहा हूं। कितनी ओछी बात है कैसा खोटा काम है। भला मेरे समान उपद्रवी कहीं ब्रह्मर्षि हो सकता है!

इस प्रकार सोच विचार कर विश्वामित्र जी ने अस्त्र शस्त्र फेंक दिये और कुटी के भीतर जाकर वशिष्ठ जी को प्रणाम किया।

वशिष्ठजी ने कहा—आइये ब्रह्मर्षि विश्वामित्र जी।

विश्वामित्र जी को बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही आनन्द भी। इतने दिनों से जिस ब्रह्मर्षि पद के पाने के लिये वे लालायित थे वह आज अनायासही प्राप्त हो गया। ब्रह्मा

के देने पर जो ब्रह्मर्षि पद विश्वामित्र जी को न प्राप्त हो सका था उसके इस तरह मिल जाने से क्या इन्हें कम प्रसन्नता हुई होगी ।

विश्वामित्रजी ने हाथ जोड़कर पूछा—महाराज ! आजतक आपने हमें ब्रह्मर्षि नहीं कहा था पर आज मुझे ब्रह्मर्षि कहके सम्बोधित किया इसका कारण क्या है ?

वशिष्ठजीने कहा–आजतक आपके हृदय से राजसी भाव दूर नहीं हुए थे । आज तक आपके हाथों में अस्त्र शस्त्र थे इसीलिये अवतक मैंने आपको ब्रह्मर्षि नहीं कहा था । पर आज वह वात नहीं है । आज आपके हृदय में सात्विक भावों का विकाश हुआ है, आज आपके हाथों से शस्त्र दूर हो गये हैं आपका हृदय शुद्ध हो गया है, आज ब्रह्मर्षियों के योग्य भाव आपके हृदय में उत्पन्न हो गये हैं । अव मुझे आपको ब्रह्मर्षि कहनेमें कोई अड़चन नहीं ।

इस तरह दोनों का द्वेष दूर होकर मैत्री हो गयी । दोनों एक दूसरे के आश्रम में आने जाने लगे । दोनों में इस तरह प्रेम भाव बढ़ने लगा । एक वार वशिष्ठजी विश्वामित्र के आश्रम में गये । विश्वामित्रजी ने उनका वड़ा सत्कार किया और अपने हजार वर्षकी तपस्या का फल उन्हे दे दिया । इस तरह कुछ दिनों तक उनके आश्रम में आदर सत्कार के के साथ रहकर वशिष्ठजी वापस चले गये ।

कुछ दिनों वाद विश्वामित्रजी वशिष्ठजी के आश्रम में गये । वशिष्ठजी ने इनका आदर सत्कार किया और एक घड़ी में

सत्संग का जो फल होता है वह उन्हें भेंट में दे दिया। वशिष्ठजी का यह आचरण विश्वामित्रजी को अच्छा न लगा। इन्होंने उन्हें बड़ा ही कृपण समझा और मनमें सोचा—क्या वशिष्ठजी ने हजार वर्षकी तपस्या का फल और एक घड़ी के सत्संग का फल दोनों को बराबर ही समझा है जो इस तरह व्यवहार किया है।

इनके हृदय का भाव वशिष्ठजी समझ गये। उन्होंने कहा–इस विषय में आपको सन्देह न करना चाहिये। यदि आपको सन्देह हो तो चलिये, कहीं इसका हम लोग निर्णय करालें। दोनों नाग लोक में शेषजी के पास गये। जब शेषजी ने दोनों की बात सुन ली तब उन्होंने विश्वामित्रजी से कहा–आप अपने हजार वर्ष की तपस्या का फल पृथ्वी में देकर उसे एक बित्ता ऊपर उठा लीजिये। उन्होंने वैसाही किया पर, पृथ्वी जहां की तहां रही, वह एक इंच भी न डिगी। तब शेषजी ने वशिष्ठजी से वही बात कही। वशिष्ठजी नेवैसा ही किया और सब के देखते देखते पृथ्वी एक बित्ता ऊपर उठ गयी। यह देख कर विश्वामित्रजी के हृदय के सभी सन्देह दूर हो गये। उन्होंने वशिष्ठजी को प्रणाम किया और अपने आश्रम पर गये। वशिष्ठजी भी अपने आश्रम पर चले गये।

योगिराज याज्ञवल्क्य ।

महर्षि याज्ञवल्क्य महाराजा जनक की राजधानी मिथिला-पुरी के निवासी थे। उनका जन्म त्रेतायुग में पूज्यवर वाजसनि नामक महर्षि के घर हुआ था। इनके वंश का विशेष वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में पाया जाता है, परन्तु यहाँ पर उसके विशेष वर्णन की आवश्यकता न देख पवित्र कीर्ति महर्षि याज्ञवल्क्य का ही जीवन चरित जो कि वेदों के श्रेष्ठ भाग उपनिषद् तथा इतिहास प्रसिद्ध महाभारत में मिलता है, लिखा जाता है।

वाजसनिवंश भूषण महर्षि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं। बड़ी का नाम मैत्रेयी और छोटी का नाम कात्यायनी था। शास्त्रज्ञ होने के कारण दोनों स्त्रियों पर इनकी प्रीति एक समान रहा करती थी और ये दोनों स्त्रियाँ भी परस्पर प्रेम-पूर्वक रहती थीं। परन्तु मैत्रेयी को कोई सन्तति न थी। अतः उसको संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने अपने पति महर्षि याज्ञवल्क्यजी से ज्ञानोपदेश के लिये प्रार्थना की। महर्षि ने उसे उपदेश का पात्र समझ उपदेश दिया। जल में कमल की तरह गृहस्थाश्रम में रह कर मैत्रेयी पतिकी सेवा करती हुई ब्रह्म ध्यान में ही अपना समय बिताने लगीं और अंत में मोक्ष पद को प्राप्त हुई।

कात्यायनी को चन्द्रकांत, महामेघ और विजय नामक तीन पुत्र हुए। ये तीनों विद्वान तथा धर्मज्ञ थे। द्वापरमें महर्षि

याज्ञवल्क्य के यहाँ अनेक शिष्य विद्याध्ययन के लिये रहते थे। उन्हीं शिष्यों में से कात्यायन ऋषि भी थे। यह मेधावी एवं परिश्रमशील थे। अतः महर्षि इन पर बड़े प्रसन्न रहते थे और उन्हें पुत्रवत मानते थे। तप, विद्या और गुरु कृपा से इन्हीं महर्षि का कात्यायन ने वाजसनेय शाखावालों के श्रौताग्नि कर्म साधन मूल पद्धति के बतलानेवाले सूत्रों तथा अठारह परिशिष्य सूत्रों की रचना की है। उन्हीं के नियमानुसार इस समय भी उनके अनुयायी शाखावालों का श्रुति स्मृति विहित कर्म प्रचलित है।

कलियुग के प्रारंभकाल में महर्षि कात्यायन के शिष्यों के अनुयायी महात्मा पारस्कर नामक ऋषि का जन्म हुआ। ये बड़े विद्वान्, तपस्वी और धार्मिक हुए। इन्होंने कठिन श्रौत सूत्रों के अर्थ सरल तथा सर्वसाधारण के समझने के लिये (श्रुतियों के अर्थ को लेते हुए) स्मृतिविहित अग्निकर्म पद्धति के पथप्रदर्शक सूत्रों की रचना की और उन्हीं के अनुसार आज कल वाजसनेय माध्येदिनीय शाखावालों के गर्भाधानादि षोड़श संस्कार किये जाते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य ब्रह्मर्षि वैशम्पायन के भानजे थे और उन्हीं के यहाँ रह कर वे विद्याध्ययन किया करते थे। होनहार शिष्य पर गुरु का विशेष प्रेम होना स्वाभाविक बात है। फिर ये तो उनके भानजे ही थे। प्रियपात्र होने से महात्मा वैशम्पायन ने इनको यजुर्वेद की ऋचाओं का पूर्ण रीति से अध्ययन कराया। महर्षि याज्ञवल्क्य पढ़ लिख चुके और सब

विद्यार्थियों में श्रेष्ठ माने जाने लगे। कारण वश महर्षि याज्ञ-वल्क्य ने अध्ययन की हुई ऋचाओं को वमन कर दिया और उन्हीं वमन की हुई ऋचाओं से कृष्ण यजुर्वेद बना। इसका विशेष वर्णन महर्षि महीधर ने अपने शुक्ल-यजुर्वेद भाष्य में निम्न रूप में किया है।

किसी समय सम्पूर्ण ऋषियों ने कुछ आवश्यक कार्य विषयक विचार करने के लिये सुमेरु पर्वत पर सभा करने का निश्चय कर सबके पास यह सूचना भेज दी कि अमुक समय अमुक पर्वत पर आप लोग अवश्य एकत्रित होकर इस कार्य में योग दें। साथ ही साथ यह भी सूचित कर दिया कि ऐसे लोकोपकारी आवश्यक विचारके समय जो सभा में न आवेगा उसे ब्रह्महत्या का पातक लगेगा। सूचना पाते ही ऋषि गण अपना-अपना कार्यकर नियमित समयपर आकर सभा में उप-स्थित होने लगे। किंतु महर्षि याज्ञवल्क्य के गुरु ब्रह्मर्षि वैशम्पायन उस सभा में न पहुँच सके। कारण उसका यह था कि उस दिन उनके पूज्य पिता का श्राद्ध दिवस था और पितृ-कार्य करना भी वे लोग अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। महात्मा वैशम्पायन उक्त दोनों कार्यों के साधने के लिये उस दिन बहुत शीघ्र उठ बैठे और शौचादि से निवृत्त हो रात में गहरा अंधेरा रहते ही गंगा स्नान को चल दिये, अंधेरी रात का अंधकार इतना अधिक था कि हाथ पसारे भी न सूझता था, परन्तु, 'यह मार्ग हमारा नित्य का परिचित है' ऐसा सोच वे अनुमान से निकल पड़े। भाग्यवश उस दिन ऐसा

हुआ था कि जब ये लोग अपनी कुटी में सो रहे थे तब कोई अनाथ स्त्री अपने नवजात शिशु को गोद में लिये वहाँ आयी और अधिक रात बीत जानेके कारण उसी कुटीके एक कोने में बाहर सो गयी थी। सोते हुए बालक के ऊपर अचानक इनका पैर पड़ गया और उसके आघात से सुकुमार बालक का प्राण पखेरू उड़ गया। बालक की माता को जो दुःख हुआ होगा उसका तो वर्णन करना कठिन है। परन्तु बालक की यह दशा देख ऋषि बाल-हत्या से अवाक हो क्षण भर काष्ठवत् निश्चल खड़े रह गये।

पीछे धैर्यपूर्वक उसे सांत्वना देकर वे उलटे पैर घर को लौट गये और सभा में न पहुँच सके सभा समाप्त हो गयी और अन्यान्य ऋषि इन पर सभा में न उपस्थित होने के कारण बहुत क्रुद्ध हुए। बाल-हत्या के साथ ही ब्रह्महत्या के घोर पातक से ये चिन्तित हुए और उन पापों का प्रायश्चित्त कराने के लिये शिष्यों को बुलाया। गुरु आज्ञा पालन करना शिष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। यह समझ शिष्यों ने उस कार्य को सहर्ष स्वीकार किया। इन्हीं शिष्य वर्गों में महर्षि वैशम्पायन के मुहलगे भानजे पुष्ट शरीर तपस्वी, बुद्धिमान याज्ञवल्क्य भी थे, इन्होंने विनय पूर्वक गुरु से कहा—"भगवन्! इन सब छात्रों की अपेक्षा मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। कृश शरीर ये बेचारे छात्र मिल कर भी किसी प्रकार इस प्रायश्चित्त के करने में समर्थ नहीं हो सकते और मैं आपकी कृपा से इस कर्म को अकेला ही कर सकता हूँ। आप इसकी कुछ चिंता न करें।

यद्यपि याज्ञवल्क्य ने यह बात शुद्ध हृदय से कही थी, परन्तु भोगवश फिरभी महर्षि वैशम्पायन को उनके वे अन्यके लिये अपमान जनक वाक्य सहन न हो सके । गुरु ने कहा—याज्ञवल्क्य बड़ा ही धृष्ट है जो जी में आता है कह देता है । पहले भी एक वार इसने हमारी आज्ञा का उल्लंघन तथा अन्य ऋषियों का तिरस्कार किया है, अतः इसे अवश्य दण्ड देना चाहिये । केवल दण्ड ही नहीं, वल्कि ऐसे शिष्य को विद्या भी न पढ़ाना चाहिये । ऐसा कह महर्षि क्रोधित होकर बोले—"अरे, कटुवादी याज्ञवल्क्य, तू मेरा भानजा एवं प्रिय शिष्य है । इसी कारण मैंने वार वार तेरा अपराध क्षमा किया है । तू उद्दण्डता से ब्राह्मणों का अपमान करता है एवं अपनी विद्या और वल बुद्धि पर इतना गर्व करता है । दर्प पूर्ण वचन बोलने वाले, दूसरों का अपमान करने वाले शिष्य को विद्या देना, विशेपतः ब्रह्म विद्या पढ़ाना सर्वथा अनुचित है । इस लिये तू हमसे पढ़ी हुई यजुः शाखा की ऋचाओं को हमें लौटा दे और जहाँ तेरी इच्छा हो चला जा । मैं अपने यहाँ तेरा रहना और तुझे विद्या पढ़ाना किसी प्रकार उचित नहीं समझता ।"

पढ़ी हुई विद्या का लौटा देना वड़ी कठिन वात है । गुरु वैशम्पायन के ये कठोर वाक्य याज्ञवल्क्य के हृदय में वाण सदृश लगे, किन्तु उन्हें अटल विश्वास था कि मैं इस सम्वन्ध में सर्वथा निर्दोप हूँ । अतः उनका मुँह क्रोध से लाल हो गया । निर्भीक होकर वैशम्पायन से पढ़ी हुई यजुः शाखा की ऋचाएँ (त्याग करने का कोई अन्य उपाय न देख) योगवल से वमन द्वारा उन्होंने त्याग दी ।

ईर्ष्या द्वेष का प्रभुत्व संसार में पहलेही से चला आता है। याज्ञवल्क्य की बुद्धिकी प्रखरता से अन्य छात्र बहुधा इनसे द्वेष रखते थे। गुरुको क्रोधित देख समय पाकर उन शिष्यों ने भी इनकी निन्दा करनी प्रारंभ की। पढ़ने में असमर्थ तथा वेद प्राप्ति के लिये लोलुप होनेके कारण उनमें से कुछ शिष्यों ने गुरुकी आज्ञा से तीतर का रूप धारण कर उन वमन की हुई ऋचाओं को भक्षण कर लिया। याज्ञवल्क द्वारा कथन किये जाने पर उच्छिष्ट होने के रूप वेदकी उस शाखाका नाम कृष्ण यजुर्वेद हुआ और तितिररूप से उसका भक्षण करनेवाले ऋषि तैत्तरीय शाखाध्यायी कहलाये।

शुक्ल कृष्ण इति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम् ।
शुक्लं वाजसनेयंतत् कृष्णं स्यात्तैत्तिरीयकम् ॥

इस स्मृति प्रमाण से यजुर्वेद शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार का है। महर्षि याज्ञवल्क द्वारा भगवान सूर्यदेव की आराधना से उपलब्ध वेद का नाम शुक्लयजुर्वेद है और वही शुक्ल-यजुर्वेद वाजसेनव महर्षि के नामसे प्रसिद्ध है।

पूर्वोत्तराङ्ग सहितं ब्रह्मविद्या सुबोधकम् ।
बुद्धिनैर्मल्य हेतुर्यत्तद् यजुः शुक्लमीर्यते ।

यह इसकी नियुक्ति है। वेदका वही उच्छिष्ट भाग तैत्ति-रीय कृष्ण यजुर्वेद के नामसे प्रसिद्ध है।

गुरू वैशम्पायन के अकारण क्रोध और पढ़ी हुई विद्या के निकल जानेसें विद्या प्रेमी महर्षि याज्ञवल्क्य अत्यंत दुःखी हुए। उनमें योगशक्ति थी। वे अपने को व्यर्थ दण्ड देने और

प्राप्त की हुई विद्याको वापस ले लेनेको वे गुरु वैशम्पायन से इसका बदला ले सकते थे। परन्तु नहीं, शिष्यको कभी गुरुका सामना नहीं करना चाहिये। इस शास्त्र आज्ञा का स्मरण कर उन्होंने एक शब्द तक मुँह से न निकाला। हाँ, दुखी होकर महर्षि ने यह संकल्प तो अवश्य उसी क्षण कर लिया कि आज से मैं किसी मनुष्य को गुरु न बनाऊँगा और न उससे विद्याध्ययन ही करूँगा।

योगी याज्ञवल्क्य महर्षि वैशम्पायनके आश्रम से उसी क्षण चल दिये और प्रतिज्ञानुसार सूर्य भगवान की आराधना करने लगे। याज्ञवल्क्य की उत्कृष्ट तपस्या तथा आराधना से सूर्य भगवान प्रसन्न हुए और बोले—

'तपोनिधे! किस इच्छा से इतना कष्ट सह कर तुम हमारी आराधना कर रहे हो। याज्ञवल्क्य ने प्रणाम कर अपना पूर्व वृत्तान्त एवं प्रतिज्ञा कह सुनायी। इनकी प्रतिज्ञा तथा आराधना से प्रसन्न हो भगवान भास्कर ने माध्यंदिनि वाजसनेय यजुर्वेद सम्बन्धी ऋचाओं को इन्हें पढ़ाया और इनके विद्योपार्जन के कठिन परिश्रम तथा प्रेम से सन्तुष्ट हो आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी विद्या सदा ताजी बनी रहे और सफल हो।

अब भी विद्या से इन्हें सन्तोष न हुआ और ये पुनः सरस्वती देवी का कठिन तप करने लगे। इनकी कठिन तपस्या से सरस्वती देवी इन पर प्रसन्न हो गयीं और उनकी कृपा से महर्षि याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण रहस्य सहित शतपथ

ब्राह्मण नामक वेदभाग की रचना की। इतना होने पर भी इनकी तृप्ति न हुई और इन्होंने प्रयत्न कर सूर्य भगवान से ऋग्, यजु, साम और अथर्व वेद अंग उपांग सहित पढ़े। महर्षि याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद का ज़ो भाग उत्कृष्ट तप के साथ सूर्य भगवान से पढ़ा था उसका नाम शुक्ल यजुर्वेद हुआ। याज्ञवल्क्य की इस उत्कृष्ट विद्याप्राप्ति से सब ऋषि तथा भूतपूर्व गुरु महर्षि वैशम्पायन को बड़ा आश्चर्य हुआ।

इतने कठिन परिश्रम से याज्ञवल्क्य कृतकृत्य हो गये और वेद का जो भाग शुक्लयजुर्वेद के नाम से विख्यात है उसे अपने शिष्योंको पढ़ाया। उत्कृष्ट तप एवं लोक विलक्षण विद्या प्राप्त करने से महर्षि याज्ञवल्क्य की कीर्ति कौमुदी समस्त संसार में फैल गयी। एक समय महाराजा जनक ने यज्ञ करने की इच्छा से पैल, वैशम्पामन जैमिनीय और सुमन्त प्रभृति ऋषियों को आमन्त्रित किया। ऋषि लोग शिष्यों के साथ विधिवत यज्ञ करा रहे थे कि अकस्मात् भार्या—कात्यायनी सहित महर्षि याज्ञवल्क्यजी वहाँ आ पहुँचे। इनको आये देख उपस्थित ऋषिवृन्द सहित महाराज जनक अभ्युत्थानके लिये खड़े हो गये। उचित सत्कार के अनन्तर इनके बैठ जाने पर सब लोग भी बैठ गये और यज्ञ विधान होने लगा। श्रौत-स्मार्त कर्म विधि में उस समय महर्षि याज्ञवल्क्य अद्वितीय थे। अतः इनके सम्मुख किसी को यज्ञ कराने का साहस न हुआ। महर्षि वैशम्पायन और स्वयं महाराजा जनक के बार बार प्रार्थना करने पर इन्होंने उस यज्ञ को पूर्ण कराया।

यज्ञ समाप्त हो जाने पर दोनों महर्षियों को समान सम्मान देकर उसकी दक्षिणा जनक ने आधी-आधी बाँट दी। सामवेद के ज्ञाता महाराज धनंजय ने भी महर्षि याज्ञवल्क्य को अध्वर्यु नियत कर एक बार यज्ञ किया था।

किसी समय प्रसन्न सलिला भगवती गोदावरी के तट पर महाराज जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य को आचार्य बना अश्व-मेध यज्ञ का प्रारम्भ किया था। राजा जनक और महाराज याज्ञवल्क्य द्वारा यज्ञ सम्पादित होने के कारण वह स्थान 'नासिक' नाम से प्रसिद्ध हुआ और अब तक वर्तमान है।

एक बार किसी समय द्विजराज मनुदेव प्रजापति दक्ष के शाप से राज्यक्षय से पीड़ित हुए और उपाय करने पर भी जब रोग दूर न हुआ तब अन्त में उन्होंने किसी सरोवर के समीप गोदावरी के तीर पर उसकी शान्ति के लिये महर्षि याज्ञवल्क्य की अध्यक्षता में विधिवत सूर्य देवतात्मक यज्ञ किया। मन्त्र और विधिपूर्वक कार्य की शक्ति निष्फल नहीं होती। चन्द्र इस रोग से मुक्त हो कलाओं से पूर्ण हुए और चन्द्र के यज्ञ करने के कारण इस तालाब का नाम चन्द्र पुष्करिणी प्रसिद्ध हुआ।

इसी प्रकार एक समय विशेष कार्यवश सूर्यग्रहण के अवसर पर नर्मदा नदी के निकट मित्रवृन्द नामक गाँव में कात्यायनीय सूत्र विधि के अनुसार वैष्णव यज्ञ कराने के लिये सब देवताओं ने मिलकर महर्षि याज्ञवल्क्य से उस यज्ञ को पूर्ण कराया। इसके बाद परीक्षित के पुत्र शतानीक

को याज्ञवल्क्य ने शुक्लयजुर्वेद शाखा का अध्ययन कराया। जगद्‌गुरु प्रजापति ब्रह्मा ने भी एक समय विष्णु को प्रसन्न करने के लिये पुण्यतमा काञ्ची क्षेत्र में महर्षि याज्ञवल्क्य की सहायता से अश्वमेध यज्ञ किया था।

महाराज जनक स्वयं ज्ञानी थे। परन्तु फिर भी उनका विचार हुआ कि ब्राह्मण गुरु द्वारा शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। कौन ब्रह्मनिष्ठ है जिनको गुरु बनावें, इसी उधेड़ बुन में वे रात दिन लगे रहते थे और उनका ऐसा करना ठीक भी था क्योंकि वे स्वयं पूर्ण ज्ञानी थे अतः साधारण पुरुष का उन्हें शिक्षा देना कठिन था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने यज्ञ के निमित्त याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषियों को आमन्त्रित किया। सब ऋषियों के आ जाने पर महाराज जनक ने बछड़े सहित सोने की एक हजार गायें मँगवा कर उपस्थित कीं और सबों के सामने यह घोषणा की कि जो ब्रह्मनिष्ठ हो वह इन सोने की गायों को अपनी शक्ति से सजीव कर ले जाय। सभा में एक से एक ब्रह्मनिष्ठ बैठे थे। परन्तु किसी को उठने की हिम्मत न पड़ी और सब एक दूसरे का मुँह देखने लगे। बात यह थी कि सब ब्रह्मर्षि लोग आपस में यह विचार कर रहे थे कि यद्यपि हम ब्रह्मनिष्ठ हैं परन्तु तो भी हमारे पहले उठ खड़े होने से औरों का जो कि हमारे वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध हैं, तिरस्कार होगा। सभा में सब ओर सन्नाटा देख महर्षि याज्ञवल्क्य ने गायों को सजीव कर अपने शिष्य प्रोक्तकारी को उन्हें हाँक ले

चलने की आज्ञा दी। गुरु की आज्ञा पाते ही प्रोक्तकारी गायों को हाँक कर ले चला। तब तो अन्य ऋषियों ने बड़ा कोलाहल मचाया जिससे सभा भवन गूँज उठा। महाराज जनक ने प्रार्थना पूर्वक ऋषियों को किसी प्रकार शांत किया और बोले—"आप लोगों के सामने महर्षि याज्ञवल्क्य की ब्रह्म-निष्ठा और श्रेष्ठता प्रमाणित हो गयी। उन्होंने अपनी योग शक्ति से गायें सजीव कर दीं। अब आप लोगों का व्यर्थ विवाद करना उचित नहीं।" ऐसा कह महाराज जनक ने सबका यथोचित सत्कार कर और दक्षिणा दे विदा किया। सबके जाने पर महर्षि याज्ञवल्क्य से हाथ जोड़ ब्रह्मविद्योपदेश के लिये उन्होंने प्रार्थना की। महाराज जनक को उपयुक्त पात्र समझ और उनकी विशेष नम्रता से प्रसन्न हो उन्होंने महाराज को गोपनीय ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया और अपने आश्रम को लौट गये। महाराजा जनक इनके अनुग्रह से योग सिद्धि प्राप्त कर गृहस्थी से विरक्त हो वन को चले गये और आत्मज्ञान लाभ से देहाभिमान रहित हो विदेह नाम से प्रसिद्ध हुए। जिससे उनका वंश वैदेह नाम से अब तक पुराणों में पाया जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मविद्या में सब से श्रेष्ठ होने के कारण महर्षि याज्ञवल्क्य का यश चारों दिशाओं में फैल गया और इसी कारण इनका नाम योगीश्वर याज्ञवल्क्य प्रसिद्ध हुआ। इनके रचित ग्रन्थों में मुख्यतया इस समय संसार में चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें से प्रथम याज्ञवल्क्य शिक्षा, जिसमें शुद्ध

यजुर्वेद, वाजसनेय, माध्यंदिनी शाखा वालों के लिये वेदाध्ययनादि की पूर्णतः विधि वर्णित है। द्वितीय प्रतिज्ञा सूत्र है, जिसमें वेद मन्त्रों के उदात्त अनुदात्तादि स्वर जानने की विधि बतलायी गयी है। तृतीय याज्ञवल्क्य संहिता है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्णों का विभाग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की द्विज संज्ञा एवं जन्म से लेकर मरण तक उनकी वैदिक क्रिया से राजा, मंत्री, सभासद, ब्रह्मणीयवर्ण और गृहस्थादिकों के धर्म लक्षण आदि बातों का सविस्तार समावेश किया गयाहै। और उसी सिद्धान्तके अनुसार इस समय भी वृटिश भारतीय न्यायालयों में दाय भाग आदि का निर्णय होता है। चतुर्थ शतपथ ब्राह्मण है। इसमें वाजसनेय शुक्ल यजुर्वेद सम्बन्धी पन्द्रह शाखाओं में विशेषतः माध्येदिनी शाखा का वर्णन दिया गया है।

महर्षि वेदव्यास ने वेद के चार विभाग किये और क्रम से उन्होंने अपने चार शिष्यों को एक एक वेद पढ़ाया। सांगोपांग यजुर्वेद के पढ़ने वाले वैशम्पायन ऋषि थे। और उन्होंने इसको ८६ शाखाओं में विभाजित कर अपने भिन्न भिन्न छात्रों को पढ़ाया। प्रति दिन अन्न वस्त्रादि दे अपने घर में रख कर छात्रों के पढ़ाने वाले महर्षि वाजसनि के पुत्र महर्षि याज्ञवल्क्य वाजसनेय नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने शुक्ल यजुर्वेद सम्बन्धी ऋचाएँ भगवान सूर्य से प्राप्त कर अपने शिष्यों को पढ़ायी और वे शाखाएँ उन्हीं के नाम से प्रख्यात हुईं। माध्येदिनी नामक महर्षिने जो शाखा पढ़ी उसका नाम माध्ये-

दिनीय शाखा हुआ। वाजसनेय याज्ञवल्क्य ऋषि के मुख्य प्रवर्तक होने के कारण इसका नाम वाजसनेयी हुआ और इस शाखा के अध्ययन करनेवाले वाजसनेय कहलाये। इस प्रकार इसका नाम 'वाजसनेय, माध्येदिनी, शुक्ल यजुर्वेद' लोक में प्रसिद्ध हुआ।

महाराजा जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य ने शास्त्रार्थ किया था। ऋषि मुनियों की सभा में गार्गी नाम की एक ब्रह्मवादिनी स्त्री भी आयी थी। उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया। इनके समान प्रखर विद्वान से पार पाना गार्गी के लिये कठिन था, इसमें सन्देह नहीं। पर गार्गी, इतनी बड़ी विद्वत मण्डली पर जिसका रोब छा गया था, उससे शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार हो गयी, यही उनके लिये प्रशंसा की बात है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ज्ञान राज्य के महापुरुष थे। इन्होंने ज्ञान की अनेक विकट गुत्थियाँ सुलझायी थीं।

महर्षि वेदव्यास।

महर्षि वेदव्यास के पिता का नाम पराशर और माताका नाम सत्यवती था। इनका जन्म यमुना के द्वीपमें हुआ था और वे काले थे इस कारण ये कृष्ण द्वैपायन के नाम से प्रसिद्ध हैं। वदरिकाश्रम में जाकर वहुत दिनों तक इन्होंने वदरी वनमें तपस्या की थी, इस कारण इनको वादरायण भी कहते हैं। ये वड़ेही विद्वान्, योगी, ज्ञानी और धर्मवेत्ता थे। इन्होंने वेदों के प्रचार में वड़ी सहायता की है। कितने ही शिष्यों को इन्होंने वेद पढ़ाये। वेदों का विभाग किया। पातंजल रचित योग सूत्रों का भाष्य वनाया। वेदान्त सूत्र इनके ही वनाये हैं जिन सूत्रों पर शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के वनाये भाष्य वर्तमान हैं। महाभारत नाम की पुस्तक जो भारतवासियों की अत्यंत प्रिय सामग्री है वह भी इन्हीं की बनायी है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त अठारहों पुराण भी इन्होंने बनाये, पर संतोष नहीं हुआ चित्त में प्रसन्नता न हुई तब नारदजी के उपदेश से भक्तिप्रधान श्रीमद्भागवत नामक ग्रन्थ वनाया। भागवत की उत्तमता के विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि उसका हिन्दुओं के घर घर में प्रचार है। भारतवासी आस्तिक मात्र भागवत के प्रेम में मस्त हैं, इतने वड़े ग्रन्थकार के गुणों का परिचय भला हम लोग क्या दे सकते हैं। किसी का यह कहना वहुत ही ठीक है कि गन्थकारों का परिचय उनके ग्रन्थों से ही होता है। वेदव्यास के परिचय के लिये इनके वनाये ग्रन्थ ही सब से

उत्तम वस्तु हैं। पैल, वैशम्पायन जैमिनी और सुमंतु, आदि इनके कई प्रसिद्ध शिष्य थे जिनको इन्होंने वेद पढ़ाये थे।

सरस्वती नदी के तीर पर इन्होंने अपना आश्रम बनाया था। वहीं ये रहते थे, शिष्यों को विद्या पढ़ाते थे और वहीं से शिष्यों के द्वारा एवं कभी-कभी स्वयं भी ये धर्मप्रचार करते थे। उनके बनाये ग्रन्थ समूह को देख कर आश्चर्य होता है। कौरव पाण्डव कुल से इनका कुछ सम्बन्ध था। जब चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य मर गये तब उनकी माता सत्यवती ने भीष्म से विवाह कर लेने के लिये कहा। पर भीष्म ने हाथ जोड़ कर उनकी आज्ञा मानना अस्वीकार कर दिया। इससे सत्यवती बहुत घबड़ायीं और वंश नाश के भय से वह भयभीत हो गयीं। तब उन्होंने कृष्ण द्वैपायन को बुलवाया। ये वहाँ गये और सत्यवती की आज्ञा से इन्होंने वंश रक्षा के उपाय किये। चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य की विधवाओं के गर्भ से धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न हुए तथा एक दासीके गर्भसे विदुर उत्पन्न हुए। इसके बाद भी वे सदा पाण्डवों को उत्तम परामर्श देते रहे। जब जब पाण्डवों पर कठिन समय आया तब तब वेदव्यासजी पाण्डवों के यहाँ गये और उत्तम परामर्श से तथा अपनी अमूल्य सहायता से उनकी रक्षा करते रहे। जब पाण्डव द्वैत वन में रहते थे तब वेदव्यासजी उनके पास पहुँचे। जाकर उन्होंने कहा—अर्जुन को तपस्या करने के लिये जाना चाहिये। उसे चाहिये कि तपस्या के द्वारा अस्त्र शस्त्र प्राप्त करे जिनसे शत्रुओं की पराजय हो। युधिष्ठिर ने

वेदव्यास की आज्ञा शिरोधार्य की। अर्जुन तपस्या करने जाने को तैयार हुए, व्यासजी ने उन्हें एक विद्या का उपदेश दिया और तपस्या करने की रीति बतलायी। अर्जुन गये, उन्होंने तपस्या की और इन्द्र, शिव आदि से उन्हें उत्तम २ अस्त्र मिले। पाण्डव भी इनका बड़ा आदर करते थे। वे भी कठिन समयों में इनको बुलाते थे और इनका उपदेश ग्रहण करते थे। राजा युधिष्ठिर ने जो राजसूय यज्ञ किया था उसमें उन्होंने वेदव्यासजी को निमंत्रित किया था।

शिवजी को प्रसन्न करने के लिये वेदव्यासजी ने बहुत दिनों तक सुमेरु पर्वत के शिखर पर तपस्या की थी इससे प्रसन्न होकर शिवजी ने इन्हें वर माँगने के लिये कहा। इन्होंने वर में एक प्रभावशाली पुत्र माँगा। उसी तपस्या के प्रभाव से वेद-व्यासजी को एक पुत्र हुआ जिसका नाम सुखदेव पड़ा। सुख-देव कितने ज्ञानी थे, कितने विद्वान थे इस बात के लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

भगवान वेदव्यास के विषय में बहुत अधिक लिखा जा सकता है। जिनके बनाये सैकड़ों उत्तम उत्तम और बड़े बड़े ग्रन्थ हैं। उनके विषय में लिखनेकी सामग्रियों का अभाव नहीं हो सकता। पर क्या हम लोग उतना लिख सकते हैं? भग-वान शंकराचार्य ने व्यासदेव के बतलाये अद्वैत मतका प्रचार किया था। आत्मा की एकता, संसार का अनित्यत्व, वैदिक ज्ञान काण्ड की सत्यता आदि बातें व्यासदेवजी ने ही बतलायी थीं।

७

महर्षि वाल्मीकि।

महर्षि वाल्मीकि का चरित्र बड़ा ही विलक्षण है। इनके विषय में जो बातें प्रसिद्ध हैं उन्हें सुनकर आश्चर्य होता है। जो एक बटमार का काम करता था वही एक दिन आदि कवि का पद पाता है, क्या यह कम आश्चर्य की बात है? वाल्मीकि के जन्म के सम्बन्ध में तीन प्रकार की बातें प्रसिद्ध हैं। तीनों नीचे लिखी जाती हैं, इन तीनों में कौन ठीक है, इस बात के निर्णय का भार पाठकों पर छोड़ना ही मैं उचित समझता हूँ। इसके दो कारण हैं। पहला कारण है निर्णय में सहायता देने वाले प्रमाणों का अभाव और दूसरा कारण है पाठकों का रुचिभेद। इस बात का मुझे पता नहीं कि कौन निर्णय किसको पसन्द आयेगा ऐसी दशा में निर्णय करने के लिये कुछ परिश्रम उठाया भी जाय तो वह कई अंशों में व्यर्थ होगा, अतएव निर्णय के रास्ते से दूर ही रहना मैं अपने लिये उचित समझता हूँ।

कुछ लोग कहते हैं कि एक ब्राह्मण थे। उनके एक लड़का हुआ। लड़का छोटा ही था, उसी समय माता पिता उस लड़के को वन में छोड़कर तप करने चले गये। किसी वनवासी भील ने उस लड़के को ले लिया और पाल-पोस कर बड़ा किया। दूसरी बात यह है कि किसी पतित ब्राह्मण के वीर्य से और किसी भीलनी के गर्भ से इनकी उत्पत्ति हुई थी। तीसरा मत यह है कि एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी वन में रहते थे। उनके एक पुत्र हुआ। पुत्र की अवस्था छोटी ही

थी कि किसी उपद्रव के कारण ब्राह्मण ब्राह्मणी को वहाँ से अचानक भागने के लिये लाचार होना पड़ा। उसी घबराहट में भागने के समय लड़का छूट गया। उपद्रव शान्त होने पर उन लोगों ने लड़के को बहुत ढूँढ़ा पर पता न लगा, क्योंकि किसी भील ने उस लड़के को ले लिया था। इस प्रकार एक ब्राह्मण पुत्र भीलों के हाथ में आया। भीलों ने पालपोस कर उस लड़के को बड़ा किया और उसका नाम रत्नाकर रखा। बड़े होने पर रत्नाकर उन्हीं को अपना पिता माता समझता और भील बालकों के साथ खेला करता था। इस प्रकार वह अपने को भील समझने लगा। वह भीलों के साथ डाका मारने लगा, लूटमार करने लगा। थोड़े ही दिनों में इस विद्या में वह बड़ा ही निपुण हो गया। उसे धनुर्विद्या की शिक्षा दी गयी थी और एक भीलनी के साथ उसका विवाह भी हो गया था। उसके पिता माता भी वृद्ध हो गये थे। इस प्रकार वह एक पूरा कुटुम्बी बन गया था।

वृद्धमाता, पिता, स्त्री और बच्चों के पालने के लिये रत्नाकरने डाके डालना, लूटना और उन कामों के लिये हत्या करना आदि काम अपनी जीविका के लिये निश्चित किये। वह प्रातःकाल रास्ते के पास किसी वृक्ष पर चढ़ कर बैठ जाता था और वहाँ से टकटकी लगाये देखा करता था। जहाँ किसी राही बटोही को आते देखता झट पेड़ से नीचे उतर जाता और उसे मार कर धन ले लेता और पुनः पेड़ पर चढ़ जाता था। इस प्रकार सूर्योदय से सूर्यास्ततक प्रति दिन

का उसका यही नित्य कर्म था। इन कामों में वह बड़ा निपुण था और अपने दलवालों में उसकी बड़ी प्रशंसा थी। इस प्रकार मालूम नहीं उसने कितने आदमियों को मारा था, कितने बालकों को अनाथ किया था, कितनी स्त्रियों को अनाथ किया था, कितनों को रुलाया था कितनों को सताया था, इसका ठिकाना नहीं।

मनुष्य का जीवन भी जल धारा के समान है। जलधारा सीधे चली जाती है, बीच में कोई कारण उपस्थित होता है और उसका मार्ग बदल जाता है, वह पश्चिम की ओर से पूर्व की ओर हो जाती है। यही बात मानवी जीवन प्रवाह के लिये भी देखी जाती है। एक मनुष्य है जिसकी जीवन धारा एक ओर बह रही है, सहसा कोई एक घटना हो जाती है और वह जीवन धारा दूसरी ओर बहने लगती है। रत्नाकरके सम्बन्ध में भी यही बात हुई। उसकी जीवन धारा पलटनेका समय आ गया। यद्यपि वह निरंतर पाप करताथा पर अदृश्य में उसके उत्तम जीवन का पट तैयार हो रहा था। देखनेवाले देखते थे कि रत्नाकर बड़ाही अधर्मी है, दयालु हृदय उसको देख कर दुखी होते थे कि वैसे पापी का उद्धार कैसे होगा। पर अदृश्य में उसके पाप जीवन की समाप्ति और उत्तम जीवन की तैयारी हो रही थी। भले ही लोगों को यह बात मालूम न हुई हो, पर बात सच्ची है। एक दिन उस अदृश्य पट को सब लोगों ने प्रत्यक्ष देखा और विश्वास किया, बात यों हुई। प्रति दिन के समान रत्नाकर पेड़ पर बैठ कर अपने

शिकारकी वाट जोहता था। एक दिन उसी मार्ग से नारदजी आये। उनको देखते ही रत्नाकर पेड़से उतरा और झपट कर उनके पास पहुँचा। नारदजीने पूछा–तुम कौन हो? रत्नाकरने कहा–"तुम मुझे नहीं पहचानते, अच्छा अभी पहचानते हो।" यह कह कर उसने अपना लोहे का दण्ड नारदजी को मारने के लिये उठाया। पर न मालूम क्यों वह दण्ड आज उससे उठा नहीं। रत्नाकर जरा चकित हुआ। वह इधर उधर देखने लगा। नारदजी ने कहा–क्या ताकता है? किस लिये तू इतना घोर पाप करता है? क्या परिवार पालन के लिये? पर क्या परिवार वाले तेरे इस पाप में से भाग लेंगे? रत्नाकर ने अपने जीवन में ऐसी अद्भुत् वातें पहले पहल सुनी थीं। नारद की पवित्रता का भी उस पर कुछ प्रभाव पड़ा। वह हक्का वक्का सा हो गया, सहसा कोई उत्तर न दे सका। वड़ी देर तक सोचता विचारता रहा। थोड़ी देर में सोच विचार कर वह हँसने लगा और वोला लूट, मार हत्या आदि के द्वारा जो धन मैं ले आता हूँ वह माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि सभी को देता हूँ, वह धन सभी के काम के आता है फिर वे हमारे पाप में भागी क्यों न होंगे? धन के भागी होते हैं और पाप के भागी न होंगे, यह कैसी वात है। नारदजी ने कहा–"तुम ऐसा समझते हो यह ठीक है, तुम्हारे माता पिता भी ऐसा ही समझते हैं, वे भी तुम्हारे पापों में भाग लेने के लिये तैयार हैं क्या यह वात तुमने उनसे पूछी है। विना उनसे पूछे इस विषय का खुद ही निश्चय करना तो ठीक नहीं।

यदि तुम मेरा कहना मानो तो जाओ अपने माता पिता की राय पूछ आओ। जब तक तुम लौट कर आओगे तब तक मैं यहीं ठहरता हूँ।" नारद जी की बात सुन कर रत्नाकर के मन में तरह तरह के विचार उठने लगे वह कभी सोचता कि क्या यह मुझे धोखा दे रहा है ? मुझे घर भेज कर आज भाग जाना चाहता है। अच्छा यह भाग ही जायगा तो क्या होगा, बात तो अच्छी कहता है। इसकी बात की जाँच करनी चाहिये। इस प्रकार सोच विचार कर रत्नाकर ने कहा— अच्छा मैं जाता हूँ, और अपने परिवारवालों से भी पूछ आता हूँ, पर तुम भाग जाओगे तो ? नारद ने कहा—तुम इस बात की चिंता मत करो। संसार में सभी लुटेरे और झूठे ही नहीं बसते। यद्यपि तुमको उनलोगोंका परिचय नहींहै जोसत्यवादी हैं, जो परोपकारी हैं, जोसज्जनहैं पर वैसे मनुष्य संसारमें हैं। तुम निश्चिंत होकर घर जाओ। लौटने पर तुम मुझको यहीं पाओगे। रत्नाकर दौड़ता हुआ अपने घर गया, पिता के पास जाकर उसने पूछा—मैं लूट मार कर धन ले आता हूँ, वही आप लोग खाते हैं और मैं भी खाता हूँ। लूट मार में मुझे प्रतिदिन कई आदमियों को मारना भी पड़ता है, इससे पाप होता है। आप लोग उस पाप में भाग तो अवश्य ही लेंगे क्योंकि आप ही लोगों के लिये मुझे यह अधर्म करना पड़ता है। पिता ने सब बातें सुन कर रत्नाकर से कहा—जब तुम बालक थे, अपनी जीविकोपार्जन करने में असमर्थ थे, उस समय मैंने तुम्हारा पालन किया, उस समय मैंने कितने

अधर्म किये उसका ठिकाना नहीं, पर क्या तुम मेरे उन पापों के भागी हो? मैं नहीं समझता और न मैं तुम्हें अपने पापों का भागी ही बनाना चाहता हूँ, इस समय मैं वृद्ध हूँ, मैं अपनी जीविका स्वयं नहीं चला सकता। मेरा पालन करना तुम्हारा आवश्यक धर्म है; क्योंकि तुम मेरे पुत्र हो। तुम इसके लिये जो वृत्ति उचित समझो करो। मैंने तुम्हें डाका डालने हत्या करने या उसी प्रकार के और कुछ करने को थोड़े ही कहा है। तुम दूसरे उपाय से हमारा पालन कर सकते हो। तुम जो कर रहे हो वह मेरे लिये नहीं किन्तु अपने लिये। अतएव मैं तुम्हारे पापों का भागी नहीं हो सकता। पिता की बातें सुनकर रत्नाकर ने सिर नीचा कर लिया। वह पिता के यहाँ से उठकर अपनी माता के पास गया। माता से भी उसने वही प्रश्न किया। माता ने कहा—बेटा, तू यह क्या कहता है, माता, पिता पुत्र के कर्मों के भागी थोड़े ही होते हैं। बेटा! दस महीने मैंने तुझे गर्भ में रखा, पाला, पोसा। माता के ऋण का शोधन करना बड़ा कठिन है। तू तो अपना कर्त्तव्य कर रहा है, मैं तेरे पापों का भागी क्यों बनूँ। बेटा! तेरा यह धर्म है कि तू मेरा पालन कर। इसके लिये तू चाहे जो उपाय काम में ला। माता की बातों से उसका हृदय बहुत ही दुखी हुआ। वह वहाँ से उठकर स्त्री के पास गया। स्त्री से भी उसने वही प्रश्न किया। स्त्री ने उत्तर दिया—आपने मेरे साथ विवाह किया है। मेरा भरण-पोषण करना आपका धर्म है।

अपने धर्म का पालन किसी भी प्रकार कर सकते हैं। बुरे कर्मों से हमारा पालन कीजियेगा या अच्छे कर्मों से, यह आपकी इच्छा। मैंने आपको बुरे कर्म करने के लिये कहा नहीं है, अतएव आपके पाप में मैं भाग भी नहीं ले सकती।

तीनों जगहों से एक ही प्रकार का उत्तर पाकर रत्नाकर बहुत दुःखित हुआ। आज तक के किये उसके पाप सामने आकर नाचने लगे। वह एक बार काँप गया। दौड़कर नारद जी के पास गया और उनके चरणों पर लोटने लगा। उसकी व्याकुलता इतनी बढ़ी कि वह फूट-फूट कर रोने लगा। हाथ जोड़कर उसने विनती की कि, महाराज! क्या मेरे लिये कोई उपाय है? क्या मेरे समान पापियों का भी उद्धार हो सकता है? कृपा कर मेरे लिये कोई उपाय बतलाइये। आपने मुझे पाप की ओर से हटाया है, अब आप ही कृपा करें तो मेरा उद्धार हो। रत्नाकर की व्याकुलता देखकर नारदजी को बड़ी दया आयी। उन्होंने पास ही के तालाब को दिखाकर रत्नाकर से उसमें स्नान कर आने को कहा। रत्नाकर वहाँ गया, पर उसे मालूम पड़ा कि उस तालाब में जल नहीं है, वह सूखा पड़ा है। वह लौट कर नारदजी के पास गया और तालाब के सूखा होने की बात कही। वास्तव में बात यह थी कि रत्नाकर इतना बड़ा पापी था कि उसके नहाने जाते ही उस तालाब का जल भी सूख गया। अब नारदजी को मालूम हुआ कि रत्नाकर बहुत ही बड़ा पापी था। उन्हें और अधिक दया आयी और उन्होंने उसके उद्धार के लिये भग-

वान से प्रार्थना की। पीछे नारदजी उसे एक कुञ्ज में ले गये, अपने कमण्डलु से जल लेकर उस पर छिड़का, उसका अभिषेक किया और भगवन्नाम का उपदेश दिया, फिर अन्तर्ध्यान हो गये। तब से रत्नाकर अपने को भूल गया, यहाँ तक कि उसके शरीर का मान तक जाता रहा। वह भगवन्नाम का स्मरण और भगवद्रूप का ध्यान करने लगा। इस प्रकार ध्यान करते उसको अनेक वर्ष बीत गये। उसके शरीर पर दीमक लग गयी, वह दीमकों की वल्मीक के भीतर छिप गया। इस प्रकार कठिन तपस्या करने पर जब वह पाप मुक्त हो गया जब पहले शरीर के रक्त, मांस आदि को उसने सुखवा दिया तब नारदजी को साथ लेकर ब्रह्मा वहाँ आये। नारदजी ने वाल्मीक के बीच से उसे निकाला। इसीसे उसका नाम वाल्मीकि पड़ा। वाल्मीकि ने नारदजी और ब्रह्माजी की स्तुति की। ब्रह्मा की आज्ञा से नारदजी ने वाल्मीकि को ऋषि की पदवी दी। वाल्मीकि ने नारदजी से पूछा कि महाराज! कृपाकर आपने ही हमारा उद्धार किया है, अब बतलाइये हम क्या करें? नारदजी ने कहा—राम नाम के प्रताप से आपका उद्धार हुआ है, इस कारण आप रामायण की रचना करें। उसमें रामचरित का वर्णन करें। वाल्मीकिजी ने कहा—"महाराज मेरे जैसा आदमी भला रामायण की रचना कैसे कर सकता है? मुझे तो रचना के सम्बन्ध का कोई ज्ञान नहीं है। नारदजी ने कहा—आप इसकी चिन्ता न कीजिये। आपकी जीभ पर सरस्वतीजी

वास करेंगी और आपको सब शास्त्रों का ज्ञान हो जायगा, आप रामायण अवश्य लिखें। आप इस काम के योग्य नहीं हैं इस बात की चिन्ता आप मत करें।" नारदजी वाल्मीकि को ऐसा उपदेश देकर वहाँ से चले गये।

इसके बाद महर्षि वाल्मीकि तमसा नदी के तीर पर अपना आश्रम बनाकर रहने लगे। उस आश्रमके पास अनेक ऋषियों ने अपना आश्रम बनाया। स्वाहा, स्वधा की मधुर ध्वनि से वह आश्रम गूँजने लगा। वेदाध्यायी शिष्यों की वेद-ध्वनि आस पास की भूमि को गुँजाने लगी। वाल्मीकि प्रातःकाल स्नान करने तमसा तीर पर जाते और वहाँ पर नित्य कर्म कर आश्रम में लौट आते और शिष्यों को पढ़ाते। अनेक शिष्य भी इनके पास आकर रहने लगे थे जिनमें भरद्वाज मुख्य थे।

एक दिन प्रातःकाल वाल्मीकि स्नान करने गये। रास्ते में इन्होंने देखा कि एक व्याधा किसी पेड़ के नीचे खड़ा है, पेड़ पर पक्षि दम्पति बैठे हैं। वाल्मीकि के देखते ही देखते व्याधा ने पुरुष पक्षी को मार गिराया। यह देखकर वाल्मीकि को बड़ी दया आयी और उस अत्याचारी व्याधा पर क्रोध भी आया। इन्हीं दो भावों के उथल पुथल में उनके मुँह से नीचे लिखा श्लोक निकला। यह पहिला ही श्लोक है। इसके पहले वैदिक छन्दों में कविता होती थी वह श्लोक यह है:-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

रामायण के टीकाकारों ने इस श्लोक के कई अर्थ किये हैं पर दो मुख्य हैं, एक अर्थ है शाप का और दूसरा अर्थ है प्रशंसा का। शाप का अर्थ पक्षी के पक्ष में घटता है और प्रशंसा का श्रीरामचन्द्र के पक्ष में। पहला अर्थ है-हे व्याधा! तूने काम से पीड़ित पक्षी दम्पति में से एक को मार डाला इससे तुम भी मर जाओ। दूसरा अर्थ है-हे लक्ष्मीपते! आपने काम मोहित राक्षस दम्पति में से एक (रावण) को मारा है इस लिये आप वहुत दिनों तक स्थित रहें।

इस श्लोक के अपने मुख से निकलते ही वाल्मीकि को वड़ा आश्चर्य हुआ। इसके पहले उन्होंने ऐसी छन्दोवद्ध वाणी न सुनी थी। वे मन ही मन उसी छन्द वद्ध वाणी के सम्बन्ध में तर्क वितर्क कर रहे थे। उसी समय ब्रह्मा ने प्रकट होकर कहा-वेटा! आश्चर्य की कोई वात नहीं है। तुम्हारा सारस्वत तेज प्रकाशित हुआ है। अव तुम इसी छन्दोमयी वाणी में रामचरित का वर्णन करो। तुम जो कुछ कहोगे वही सच होगा। जैसा चरित तुम वर्णन करोगे वही चरित सच होगा। इतना कह कर ब्रह्मा अदृश्य हो गये। वाल्मीकि अपने आश्रम पर आये और इन्होंने रामायण की रचना प्रारंभ कर दी। रामावतार के पहले ही रामायण तैयार हो गयी थी। महर्षि वाल्मीकि राजा दशरथ के मित्र थे। राजा दशरथ अपने कामों में इनकी सहायता लिया करते थे। रामचन्द्रजी पिता की आज्ञा से जव वनवास के लिये चले तव उन्होंने वाल्मीकि के आश्रम पर कुछ दिनों तक निवास किया था।

वाल्मीकि के जीवनकी एक और महत्व पूर्ण घटना है जिसका वर्णन नीचे किया जाता है।

रावण वध के पश्चात् जब श्रीरामचन्द्र अयोध्या में आये और शासनभार अपने हाथों में लिया उस समय सीता के सम्बन्ध में अपवाद फैलने की खबर उन्हें मिली। उन्होंने तुरंत लक्ष्मण के साथ सीता को फिर जंगल में भेजकर वहीं छोड़ दिया। उस समय सीता गर्भवती थीं। गंगा के रेतीले मैदान में सीता अपने फूटे भाग्यपर रो रही थीं। भाग्यवश वहाँ कहीं से वाल्मीकिजी आगये सीता को अपने आश्रम पर ले गये। सीताजी नियमपूर्वक वहीं रहने लगीं। वाल्मीकिजी के आश्रम में ही सीताजी को दो पुत्र हुये जिनका नाम लव और कुश था। महर्षि वाल्मीकि ने लव-कुश के क्षत्रियोचित सब संस्कार किये। उन लोगों को शस्त्र और शास्त्र विद्या की शिक्षा भी उन्होंने ही दी। इस प्रकार लव-कुश को वाल्मीकिजी ने पूर्ण योग्य बनाया। पर यह बात उन्होंने गुप्त रखी, जब श्रीरामचन्द्र अश्वमेध यज्ञ करने लगे उस समय उन्होंने अन्य ऋषियों के साथ महर्षि वाल्मीकि को भी निमंत्रित किया। वाल्मीकिजी गये और साथ में लव-कुशको भी लेते गये। लव-कुश वाल्मीकि रामायणका पाठ करते थे। इनको देख लोगों के मनमें सन्देह हो गया कि ये राजकुमार हैं पर ये अपने को ऋषि-कुमार ही बतलाते थे। पर समय आया और वाल्मीकिजी ने सच्ची बात प्रकाशित करदी। उसी समय सीताजी भी निर्दोष सिद्ध हुईं, पर सीताजी अपनी माता-पृथ्वी की गोद में सदा के लिये चली गयीं।

वाल्मीकीय रामायण महर्षि वाल्मीकि के यश की पताका है। संस्कृत साहित्य का सर्वस्व है।

महामुनि गौतम।

ये बड़े तपस्वी और विद्वान थे। इनके पिताका नाम दीर्घतमा था। दीर्घतमा त्रेता युग के प्रसिद्ध महर्षि अङ्गिरा के पौत्र थे। इनका आश्रम हिमालय की तराई में था। वहीं गौतम का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। ये तपस्वी, तत्वज्ञानी, विद्वान, बुद्धिमान और तेजस्वी थे। नयी नयी बातों का पता लगाने की ओर इनकी प्रवृत्ति बाल्यावस्था से ही थी। ये सदा शास्त्रों का चिंतन किया करते थे। इनकी योग्यता का आदर उस समय के अन्य महर्षियों ने भी किया था। इन्हें सप्तर्षि मण्डल में स्थान मिला था। ये एक प्रामाणिक महर्षि हैं। इनकी स्त्री का नाम अहल्या था। अहल्या बड़ी सुन्दरी और पतिव्रता थी। इन्होंने स्वयम्वर में इन्द्र आदि लोकपालों को छोड़ कर गौतम को अपना पति बनाया था। एक बार इन्द्र और चन्द्र ने मिल कर अहल्या की ओर से गौतम ऋषि के मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया। गौतम ऋषि के मन में यह बात बैठ गयी कि अहल्या हीन चरित स्त्री है। अतएव उन्होंने अपने शिष्य चन्द्र को अपने मृगचर्म से मारा जो उसकी छाती में लगा और वहाँ काला दाग पड़ गया। इन्द्र को गौतम जी ने शाप दिया कि तुम्हारे शरीर में हजार भग हो जायें और अहल्या को शाप दिया कि तू पत्थर की हो जा। गौतम के समान ब्रह्मर्षियों की बातें झूठी नहीं होतीं। उन्होंने जिसको जो शाप दिया वह सब सच हुआ। इस घटना से गौतम का

धर्म प्रेम कितना ऊँचा था, वे सदाचार को कितना महत्व देते थे, इस बात का पता लगता है। अहल्या उनकी प्रिय स्त्री थीं पर जिस समय अहल्या के चरित्र में उन्हें सन्देह हुआ उसी समय उन्होंने शाप दिया। धर्म प्रेम की दृढ़ता के सामने स्त्री प्रेम की कमजोरी ठहर न सकी। उन्होंने झट स्त्री को पत्थर हो जाने का शाप दिया। इस घटना से गौतम को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपना वह आश्रम त्याग दिया जहाँ व अहल्या के साथ रहते थे। अहल्या का उद्धार श्री रामचन्द्रजी ने जनकपुर जाने के समय किया था। तव तक गौतम ने न तो दूसरा विवाह किया और न वे सुख से रहे। अहल्या के उद्धार पाने पर गौतम सुखी हुए।

गौतम प्रयाग के पास कहीं पर आश्रम बना कर रहते थे। पर वहाँ के आश्रम में असुविधा होने से ये मिथिला राज्य में चले गये और वहीं आश्रम बना कर रहने लगे। वहीं अहल्या के साथ वियोग होने का बुरा प्रसंग उपस्थित हुआ। इस घटना से दुखी होकर गोतम ने इस आश्रम को भी छोड़ दिया और ये हिमालय प्रदेश में कहीं जाकर रहने लगे। वहाँ बहुत दिनों तक ये रहे। फिर जब अहल्या इनको मिली तब ये वरुण के वन में चले गये और वहीं रहने लगे। वहाँ उन्होंने आश्रम बनाया और बहुत दिनों तक घोर तपस्या की। वह स्थान गौतम आश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। गौतम का वह आश्रम इस समय तीर्थ समझा जाता है। इनके यहाँ अनेक शिष्य पढ़ते थे। न्याय शास्त्र नाम का एक तत्व ज्ञान

शास्त्र इन्होंने पहले पहल बनाया । इससे इनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी और दूर-दूर के जिज्ञासु विद्यार्थी इनके यहाँ आने लगे । गौतम के दो पुत्र थे । एक का नाम शतानन्द और दूसरे का नाम चिरकारी था । इनको एक कन्या भी थी जिसका नाम अञ्जनी था ।

गौतम धर्मशास्त्रकार थे । इन्होंने जो धर्म ग्रन्थ बनाया है वह गौतम स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है । इसका धार्मिक समाज में कम आदर नहीं है । इनका बनाया हुआ शास्त्र न्यायशास्त्र कहा जाता है । इस शास्त्र का दूसरा नाम न्याय दर्शन भी है, इस दर्शन में पाँच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आहनिक हैं । एक दिन का बनाया हुआ आह्निक नाम से प्रसिद्ध है । आह्निकों में तत्वों का विचार किया गया है ।

इनके तप के प्रभाव से गोदावरी नदी गौतमी गंगा के नाम से प्रसिद्ध हुई । वहाँ बड़ा भारी मेला होता है । सिंहस्थ बृहस्पति के कार्तिक मास में दूर दूर के यात्री वहाँ स्नान पूजन करने के लिये आते हैं । मिथिला के राजा निमिराज को इन्होंने अनेक वर्षों तक यज्ञ कराया था । गौतमाश्रम में एक तालाब है जो अहल्या ह्रद के नाम से प्रसिद्ध है । ये अपने तप के प्रभाव से बड़े बड़े असाध्य कार्य भी सिद्ध कर दिया करते थे । कहते हैं कि ये प्रतिदिन प्रातःकाल धान रोपते थे और दोपहर तक फल लग कर वे पक जाते थे और वही गौतम भोजन करते थे । इस प्रकार की अनेक किम्वदन्तियाँ गौतम के सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं ।

महर्षि पतञ्जलि।

महर्षि पतञ्जलिके पिताका नाम महर्षि अङ्गिराथा। इलामें ये रहते थे और गोनर्द देशके गोनर्द नामक नदीके तीर इनकी तपस्या का आश्रम था। कुछ लोग कहते हैं कि सूर्यार्घ देते समय किसी ब्राह्मण की अञ्जलि से भूमि पर गिरे थे जिस कारण इनका नाम पतञ्जलि पड़ा। इस प्रकार के तर्क करने का कारण पतञ्जलि शब्द है। इस शब्द का संस्कृत में अर्थ है अंजलिसे गिरा हुआ। इसीकी सार्थकताके लिये वैसी कल्पना की गयी मालूम पड़ती है। या इस कल्पना में या इस कल्पना के आधारभूत पतञ्जलि नाम में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे अंजलि से उत्पन्न होना मालूम पड़े। सम्भव है पहले इनके कुटुम्ब में बहुत लोग हों और ये सबके प्यारे हों, सभी इनको अंजलियों में रखते हों, किसी कारण वश वे अलग २ हो गये हों अथवा इनका उनका प्रेम ही कम हो गया हो और अंजलियों में इनका रहना छूट गया हो। क्या ऐसी घटना के सम्बन्ध में पतञ्जलि शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता? निश्चित बातक्याहै इस बातका पता लगाना इस समय कठिन है। महर्षि पतञ्जलि की स्त्री का नाम लोलुपा था, लोलुपा सुमेरु पर्वत के उत्तर की ओर किसी गुफा में किसी दुःख की मारी अपनी रक्षा के लिये वहाँ बैठी थी। वह किसी उत्तम कुल की कन्या थी। संयोगवश पतञ्जलि उधर से निकले। उन्होंने भयभीता एक स्त्री को गुफा में देखा। उनको देखते ही स्त्री और अधिक डरी। पर उन्होंने मधुर वाक्यों से उसे

धीरज बँधाया। उससे बातचीत की। इनकी बातों से चञ्चला को भी इन पर विश्वास हो गया और वह इनके साथ आश्रम में आयी।

पतञ्जलि ने उसे अपने योग्य समझा और उससे ब्याह कर लिया। लोलुपा बड़ी बुद्धिमती स्त्री थी। पतिदेव उसे जो सिखाते थे वह सब सीख लेती थी। वह गाने बजाने में बड़ी निपुण हो गयी थी। जहाँ कहीं ऋषियों का समागम होता था और वहाँ ये दम्पति भी उपस्थित रहते थे तो लोगों के आग्रह से इनको अवश्य गाना पड़ता था।

पतञ्जलि एक बड़े भारी विद्वान थे। उन्होंने योगदर्शन नामक एक दर्शन बनाया। इसको पातञ्जलि दर्शन भी कहते हैं। यह सेश्वर सांख्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। कपिल के सांख्य में ईश्वर के विषय में कोई स्पष्ट बात नहीं कही गयी है। पर पातञ्जलि ने अपने दर्शन में ईश्वर तत्व बतलाया है। अतएव योगदर्शन सेश्वर सांख्य कहा जाता है। सांख्य में जो पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं वे ही योग दर्शनकार भी कहे जाते हैं। इसमें भेद केवल यही है कि एक ईश्वर का प्रतिपादन करता है और दूसरा नहीं। जो ईश्वर का प्रतिपादन करता है वह सेश्वर सांख्य कहा जाता है और जो ईश्वर का प्रतिपादन नहीं करता वह निरीश्वर सांख्य कहा जाता है। योगिराज पतञ्जलि का परिचय उनके बनाये ग्रन्थों से ही लग सकता है। क्योंकि वे ही उनके स्वरूप हैं। अतएव योग दर्शन का संक्षिप्त परिचय नीचे लिखा जाता है।

यह दर्शन अन्य कतिपय दर्शनों के समान अपने निर्माता के नाम से ही प्रसिद्ध है। योग के लक्षण, उनके सहायक तथा विरोधी कारण और फल आदि का वर्णन इस दर्शन में किया गया है। भगवान वेदव्यास ने इस दर्शन का भाष्य बनाया है। यह भाष्य संक्षिप्त है, पर है बड़े काम का। इस भाष्य में एक प्रकार का मतभेद पाया जाता है। कुछ लोगों की सम्मति है, कि इस दर्शन में भाष्यकर्त्ता वेदव्यास नहीं हैं। पर कुछ लोग इस भाष्य को वेदव्यास का ही बनाया मानते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने पातञ्जल भाष्य की एक टीका लिखी है। उन्होंने एक श्लोक टीका के आरम्भ में लिखा है जिससे मालूम होता है कि वाचस्पति मिश्र के मत से पातञ्जल दर्शन का भाष्य वेदव्यास का ही बनाया है। वह श्लोक यह है—

नत्वा पतंजलिमृषीं वेदव्यासेन भाषिते।
संक्षिप्त स्पष्ट बह्वर्थं भाष्ये व्याख्या विधास्यते॥

इसका अर्थ यह है कि पतञ्जलि ऋषि को प्रणाम करके वेदव्यास के भाष्य की संक्षिप्त, स्पष्ट और बहुत अर्थ बतलाने वाली व्याख्या बतलाता हूँ। श्लोक वाचस्पति मिश्र का है और इस श्लोक में यह बात स्पष्ट रूप से बतलायी गयी है कि पातञ्जल दर्शन का भाष्य वेदव्यास का ही बनाया है। इस प्रकार स्पष्ट प्रमाण के रहने पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। सच्चा सन्देह वह है जो बिना कारण के हो। कारण के रहने पर तो सन्देह होता ही है। यही बात पातञ्जल दर्शन के भाष्य के विषय में भी समझनी चाहिये।

कतिपय सज्जन कहते हैं कि पातञ्जल दर्शन का भाष्य महर्षि वेद-व्यास का बनाया नहीं है। वे अपने मत की पुष्टि के प्रमाण देते हैं कि महर्षि वेदव्यास वेदान्त सूत्रों के निर्माता हैं। वेदान्त सूत्रों में योग दर्शन के मत का खण्डन किया गया है। वहाँ लिखा है कि—'एतेन योगः प्रयुक्तः' अर्थात् इससे योग परास्त हुआ। योग दर्शन के सिद्धान्त को वेद-व्यास श्रुति विरूद्ध अतएव अप्रामाणिक समझते हैं। भला जिस बात को वेदव्यास अप्रामाणिक समझें, श्रुति विरूद्ध समझें उसी पर वे भाष्य लिखने बैठें, इस बात का विचार करना कैसे उचित कहा जायगा, ऐसे सन्देहवादियों का यही कहना है। वाचस्पति मिश्र की बात की ओर ध्यान न देकर जो सन्देह खड़ा करना चाहता है उसको वाचस्पति मिश्र की उक्ति से समझाना बड़ा कठिन है, अतएव हम उन विचारों को सम-झाने का दूसरा प्रयत्न करते हैं।

शास्त्रों में प्रधान और अप्रधान दो प्रकार की बातें लिखी जाती हैं। प्रधान बातों का समर्थन करने के लिये बहुत सी अप्रधान बातें लिखी जाती हैं। एक ही सिद्धान्त के समर्थन के लिये कई हेतु बतलाये जाते हैं। इनमें बहुत से हेतु कमजोर भी होते हैं और बहुत से मजबूत होते हैं, शास्त्रकारों की यह रीति है। शास्त्रों में जो बातें लिख दी जायें, वे सभी प्रामा-णिक समझी जायँ यह कोई बात नहीं है। निर्बल हेतुओं का पहले उल्लेख होता है और सबल हेतुओं का पीछे। अंत में जो हेतु लिखा जाता है वही दोष हीन और ग्राह्य होता है।

मीमांसा के आचार्यों का कहना है कि "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः"। जिस तात्पर्य से जिस शब्द का प्रयोग किया जाय उस शब्द का वही अर्थ समझना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि शास्त्र का जो तात्पर्य है वही उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। और वही प्रामाणिक है। अप्रधान विषयों के दुष्ट होने से या अप्रामाणिक होने से प्रधान विषय की कोई हानि नहीं होती और न इससे शास्त्र की मर्यादा में ही कोई अन्तर होता है। प्रतिपाद्य विषय की ही प्रधानता है और उसी का निर्दोष तथा प्रमाणिक होना आवश्यक है।

अब हम लोगों को इस बात का विचार करना चाहिये कि योग दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है और गौण विषय क्या है? वेदान्त ने योग दर्शन के किस विषय का खण्डन किया है। मुख्य विषय का या गौण विषय का। यदि योग के मुख्य विषय का वेदान्त ने खण्डन किया हो तो इस बात के मानने में संकोच न करना चाहिये कि पातञ्जल दर्शन अप्रामाणिक है। वह वेद विरुद्ध है। अतएव उस दर्शन का भाष्य वेदव्यास ने नहीं बनाया होगा। यदि यह बात ऐसी न हो, यदि योग के प्रधान विषय का खण्डन वेदान्त ने न किया हो किंतु अप्रधान का खण्डन किया हो तो योग के अप्रमाणिक होने का कोई कारण नहीं है। और फिर योग दर्शन के भाष्य निर्माण न करने के लिये वेदव्यास को भी कोई प्रबल कारण नहीं है।

योग दर्शन का पहिला सूत्र है—'अथ योगानुशासनम्'। इस सूत्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि योग का प्रतिपादन करना

ही योग दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। प्रधान महत् अहंकारादि पदार्थों का निरूपण योग दर्शन का मुख्य उद्देश्य नहीं है किन्तु गौण है। अतएव योग दर्शन ने अपने लिये नये पदार्थ नहीं बनाये हैं, किन्तु कतिपय पदार्थों का मानना उसके लिये आवश्यक था। विना अवलम्ब के दर्शन का उपदेश नहीं हो सकता। इसीलिये योग दर्शन कार ने सांख्य के पदार्थ ले लिये, न्याय वैशेषिक के पदार्थ योग के लिये उपयुक्त नहीं थे। इस कारण वेदविरोधी होने पर भी योगदर्शन कारने सांख्य के पदार्थों को ग्रहण किया। क्योंकि सांख्यदर्शन के पदार्थ अध्यात्मविद्या के अधिकांश उपकारक हैं। योग ने सांख्य-दर्शन के पदार्थ ले लिये हैं अवश्य, पर इन पदार्थों का समर्थन योग दर्शन ने नहीं किया है। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि पदार्थ निरूपण योग दर्शन का मुख्य विषय नहीं है किन्तु गौण विषय है। इसका मुख्य विषय है योग। भगवत्पूज्य पाद शंकराचार्य ने लिखा है—"स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात् प्रत्यासन्नो वेदान्तवाक्यस्य।" वेदान्तियों के समान सांख्य भी कार्यकारण में अनन्यत्व मानते हैं अतएव सांख्यवेदान्त का बहुत कुछ समीपवर्ती है। अच्छा, तो अब यह बात हुई कि योगदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय योग है और महदादि पदार्थों का निरूपण उसका प्रधान विषय नहीं है किन्तु अप्रधान। अब यह देखना है कि योगदर्शन के प्रधान विषय का या अप्रधान विषय का वेदान्त ने खण्डन किया है।

"एतेन योगः प्रयुक्तः' सूत्र के द्वारा योगदर्शन के प्रधान विषय का खण्डन नहीं किया गया है, किन्तु अप्रधान का। इसका पहला सूत्र है—'इतरेषां चानुपलब्धे'। जिसका अर्थ यह है कि सांख्य के माने हुए जगत् का कारण प्रधान और महदहंकारादिक पदार्थ वेद में नहीं पाये जाते। इसका वेद में उल्लेख नहीं है। इस लिये सांख्यदर्शन का वह मत वेद विरुद्ध ओर अप्रामाणिक है। इस सूत्र के बाद का ही सूत्र एतेन योगः प्रयुक्तः है अर्थात् इससे योग का भी खण्डन हुआ। इसका तात्पर्य यही मालूम होता है कि योग दर्शन में सांख्य की जो बातें लिखी गयी हैं उसका भी खण्डन हुआ। क्योंकि दोनों ही बातें एक ही हैं। योग के मुख्य विषय के खण्डन से इसका अभिप्राय नहीं है। यह बात स्पष्ट मालूम होती है। प्रधान महदहंकारादिक का वेदों में पता नहीं। इसलिये योग विषय का खण्डन हुआ कहना नितान्त अनुचित है। क्योंकि प्रधान आदिसे योगका कोई सम्बन्ध नहीं। इनकी श्रुति में उल्लेख न होने से योग के अप्रामाणिक होने का कोई कारण नहीं। श्रुतियों में योग का तो उल्लेख पाया जाता है फिर श्रुत्युक्त अतएव प्रामाणिक योग के लिये अप्रामाणिक कहना वेदान्त सूत्रों के लिये सम्भव कैसे कहा जा सकता है। योगकथित आसनों का भी वेद में पता चलता है।

योगदर्शन में यद्यपि प्रधान आदि का उल्लेख है पर इन पर योगदर्शन निर्भर नहीं है। अतएव योगशास्त्र प्रणेता ने कहा है—

गुणानाम् परमम् रूपम् न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्र दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मामेव स तुच्छकम् ॥

गुणों का परम रूप अर्थात् उनका अधिष्ठान आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता और तो दृष्टिगोचर होते हैं—प्रधान महदादिक—वे माया के समान तुच्छ हैं। विना अवलम्ब के योग नहीं हो सकता। इसी लिये योग दर्शन में गुणों का उल्लेख किया गया है और कोई कारण नहीं है और न योगदर्शन में इनकी प्रधानता ही है। वह इनको माया के समान तुच्छ समझता है, इस वात के मान लेने के कई कारण हैं।

अनन्तदेव ने आर्या छन्द में एक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में उन्होंने वेदान्त के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। सांख्य का जो मत उनके अनुकूल है उसका उन्होंने विरोध नहीं किया है और विरोध का कोई कारण भी न था। इसी अनन्त देव के अवतार योग सूत्र प्रणेता पतंजलि हैं। फिर ये वेदान्त मत के विरुद्ध कैसे लिख सकते हैं उनका खण्डन ही कोई कैसे कर सकता है।

वाचस्पति मिश्र ने 'एतेन योगः प्रयुक्तः' सूत्र की जो व्याख्या लिखी है उसका अर्थ है कि—हिरण्यगर्भ पतञ्जलि आदि महर्षियों के प्रणीत योगशास्त्र की सब विषयों में अप्रामाणिकता नहीं वतलायी जाती। किन्तु जगत् का कारण स्वतन्त्र प्रधान है और उनके कार्य महदहंकारादिक हैं। इस विषय में योगशास्त्र की अप्रामाणिकता वतलायी जाती है।

इससे समस्त योगशास्त्र अप्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान आदिकी सत्ता बतलाना योगशास्त्र का मुख्य विषय नहीं है किन्तु योग उनके साधन, अवान्तर फल अर्थात् परम फल आदिका निरूपण करना ही इसका मुख्य तात्पर्य है। उस विषय में योगशास्त्र के अप्रामाणिक होने का कोई कारण नहीं है।

एक और बात है—महाभारत और पुराण वेदव्यास ही ने बनाये हैं। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में तथा पुराणों में योग के उपदेश विस्तार के साथ दिये हैं। ऐसी दशा में यह मान लेना नितांत युक्ति संगत है कि पातंजल योग शास्त्र का भाष्य महर्षि वेदव्यास का ही बनाया है। भोज राज ने पातंजल दर्शनकी एक वृत्ति बनायी है, जो भोजवृत्ति कही जाती है। उसकी उपक्रमणिका में उन्हों ने लिखा है—

योगेन चित्तस्य, पदेन वाचा, मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपा करोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलीं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥

अर्थात् जिन्होंने योगके द्वारा चित्त का मल, व्याकरण के द्वारा वचन का मल और वैद्यक के द्वारा शरीर का मल दूर किया है उस मुनि प्रवर पतंजलि को अंजलिबद्ध होकर प्रणाम करता हूं। इससे मालुम पड़ता है कि भोजराज के मत में व्याकरण महाभाष्य कर्त्ता और योगदर्शन कर्त्ता दोनो एकही हैं, पतंजलि अनन्त देव के अवतार हैं और उन्होंने ही व्याकरण महाभाष्य की रचना की है। इस विषय में भारतीय आचार्यों में मतभेद

नहीं हैं पर इतिहास वेत्ता इस विषय में तर्क उपस्थित करते हैं। वेदव्यास का समय दूसरा है और पाणिनि का समय दूसरा। व्यासदेव के बहुत पीछे पाणिनी का समय आता है और पाणिनि के बहुत समयके बाद पतंजलि का भाष्य बनाया गया है। पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन के वार्तिक बने हैं। वार्तिकों के बनने के बाद महाभाष्य का निर्माण हुआ है। महाभाष्य में वार्तिकों पर खूब खण्डन मण्डनात्मक विचार हुए हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि वेदव्यास के बहुत दिनों के बाद पतंजलिका समय इतिहासमें आता है। इसी कारण कुछ लोग कहते हैं कि योग सूत्रों का भाष्य वेदव्यास का बनाया नहीं है। योगसूत्र और व्याकरण महाभाष्य के कर्त्ता एकही पतंजलि के होने में मतभेद हो सकता है पर ऊपर लिखी बातों की तुच्छता बतलाना सहज है। वेदव्यास चिरंजीवी हैं। अनन्तदेव किस समय पतंजलि के रूप में आविर्भूत हुए थे और वे कितने दिनों तक विराजमान रहे इसका कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। वेदव्यासके आविर्भाव के बहुत बाद महाभाष्य रचित हुआ है। इससे यह कैसे साबित हुआ कि पतंजलि भी उनके बहुत पीछे हुए हैं। इस कल्पना को भी प्रामाणिक मान लें तो भी चिरंजीवी वेदव्यास के लिये योगसूत्रों का भाष्य बनाना असंभव नहीं माना जा सकता। पतंजलि योगी थे। योग के प्रभाव से आयु बढ़ायी जा सकती है यह बात विद्वानों को मालूम है। इस समय भी संयम से रहने वालों की अधिक आयु देखी जाती है। कश्मीर के इतिहास में एक

राजा के तीन सौ वर्ष तक जीने की बात स्पष्ट लिखी है। अतएव योगियों के दीर्घ जीवीत होने में किसी प्रकार का सन्देह रखना उचित नहीं। अन्य बातों का निर्णय ऐतिहासिक स्वयं कर लें।

पातंजल दर्शनमें १६५ सूत्र हैं और चार पादों में ये सूत्र विभक्त हैं। इन पादों के नाम यथा क्रमसे ये हैं:-समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। इन अध्यायों में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है, वह इनके नामसे ही मालूम होता है। वाचस्पपति मिश्र ने योगसूत्रों पर एक टीका लिखी है। उसमें प्रत्येक पाद की समाप्ति में एक श्लोक द्वारा उन्होंने उस पाद के विषयों का अच्छा दिग्दर्शन करा दिया है। पहले पाद के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है-योग का उद्देश्य और लक्षण, चित्त वृत्तियों के लक्षण, योग के उपाय और योग के भेद, दूसरे पादमें क्रियायाग क्लेशकर्म विपाक कर्म फल का दुःख ममत्व और उसका हेयत्व, हेयहेतु, हान, हानोपाय आदि विषयों का निरूपण किया गया है। तीसरे पाद में योग का अंतरंग अंग, परिणाम, समयविशेष द्वारा ऐश्वर्य विशेष की उपलब्धि और विवेकज ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है तथा चौथे में मुक्तियोग्य चित्त परलोक सिद्ध, वाह्यार्थ सद्भाव सिद्धि, चित्तातिरिक्त आत्माकी सिद्धि धर्ममेघ समाधि जीवन्मुक्ति, विदेह कैवल्य आदि का निरूपण किया गया है। येविषय प्रधान हैं, इनके अतिरिक्त और भी प्रसंगोपात्त विषयों का वर्णन किया गया है।

वेदव्यास का भाष्य, वाचस्पति मिश्रकी तत्व वैशारदी टीका भोज राज की वृत्ति और विज्ञान भिक्षु का योग वार्त्तिक, योगदर्शन के ये ग्रन्थ इस समय प्रसिद्ध हैं। इस दर्शन के और भी प्रकरण ग्रन्थ तथा टीका ग्रन्थ देखे जाते हैं। दुःख की बात है कि आजकल योग दर्शन के अध्यापकों का एक प्रकार से अभाव हो गया है और इसी कारण दर्शन के ग्रन्थों का भी लोप होता जाता है।

राजा जनक ।

इस समय विहार का उत्तरी भाग तिरहुत कहा जाता है। पहले इस भाग का नाम मिथिला था, जिसकी राजधानी जनकपुर में थी। राजधानी का जनकपुर नाम इस कारण हुआ कि यहाँ जनकवंश के राजाओं का राज्य था। इस वंश में वृहद्रथ जनक नाम के एक राजा हुए। इनमें राजाओं के समान गुण वर्तमान थे। साथ ही ये तत्वज्ञानी भी थे। इनके समय में देश विदेश के विद्वान तत्वज्ञानियों का खूब सम्मान होता था। समय समय पर राजा जनक तत्वज्ञानियों की सभा एकत्रित करते थे और उन सभाओं में अध्यात्म तत्वों पर विचार होता था। वाद विवाद होता था। अनेक ऋषि, मुनि राजा जनक के यहाँ तत्व ज्ञान सम्बन्धी उपदेश लेने को आते थे। प्रसिद्ध तत्व ज्ञानी शुकदेव जी ने भी जनक से तत्व ज्ञान का उपदेश लिया था। राजा जनक स्वयं तत्व ज्ञानियों के साथ वाद विवाद करते थे। उपनिषदों में इसके काफी सबूत हैं।

इनके पिता का नाम देवराज जनक था, इस कारण ये दैवराजि भी कहे जाते थे। इसी कुल में महारानी सीताका जन्म हुआ था और भगवान् रामचन्द्र का उनसे विवाह हुआ था। परशुराम ने भारत को क्षत्रिय शून्य करने का इक्कीस वार प्रयत्न किया था और वे प्रयत्न में सफल भी हुए थे। पर इस जनक कुल का नाश उन्होंने नहीं किया क्योंकि यह वंश ब्रह्म ज्ञानी, तत्वज्ञ, धर्मात्मा और न्यायनिष्ठ था।

राजा बृहद्रथ जनक मुमुक्षु थे। ये ब्रह्मज्ञानियों को ढूँढ़ा करते थे और उनसे उपदेश ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहा करते थे। इस इच्छा को पूर्ण करने के लिये ये कभी सभा करते थे, कभी यज्ञ करते थे, और इस उपलक्ष्य में ब्राह्मणों को निमन्त्रण करके उनसे ब्रह्म विचार करते थे। एक वार उन्होंने एक यज्ञ किया था और उसमें याज्ञवल्क्य, आश्वलायन आर्तिभाग, भुज्यु, चाकायन, अहुणि, उद्दालक तथा गार्गी आदि ब्रह्मनिष्ट स्त्री-पुरुषों को उन्होंने निमन्त्रित किया था। यज्ञ समाप्त होने पर राजा जनक ने एक हजार गायें जिनकी सींगें सोने की थीं मँगवायीं और सब ऋषियों से कहा कि आप में जो सब से बड़ा विद्वान हो वह इन गायों को ले जा सकता है। वहाँ सभी ब्रह्मज्ञानी थे। पर उन लोगों ने सोचा, यदि हम इन गायों को लेते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि हम अपने को सब ब्रह्मज्ञानियों से श्रेष्ठ समझते हैं। ऐसा करने से दूसरों का अपमान होगा। यही विचार कर किसी ने भी गायों को लेने का साहस नहीं किया। ऐसे समय में महर्षि

याज्ञवल्क्य आगे आये और उन्होंने अपने शिष्य प्रोक्तकारी को आज्ञा दी कि इन गायों को ले जाओ। याज्ञवल्क्य की बातें सुन कर वहाँ जो ऋषि मण्डल एकत्र हुआ था उसमें खलबली मच गई। लोग महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार हो गये। गार्गी नाम की एक स्त्री ने इनसे खूब शास्त्रार्थ किया। याज्ञवल्क्य ने बड़ी वीरता से सभी के प्रश्नों का उत्तर दिया। इनका उत्तर प्रत्युत्तर बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है। राजा जनक का मनोरथ पूरा हुआ। वे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी ढूँढ़ते थे सो मिल गया। उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्य को अपना गुरू बनाया। शतपथ ब्राह्मण में राजा जनक और याज्ञवल्क्य संवाद रूप में बहुतसी जानने योग्य बातें लिखी हैं। श्वेतकेतु के साथ भी राजा जनक के प्रश्नोत्तर हुए हैं। ये सभी प्रश्नोत्तर आध्यात्म विषय पर हुए हैं और आध्यात्म प्रेमियों के जानने योग्य हैं।

विवेकी मनुष्य साधारण बात पर भी गेहराई के साथ विचार करते हैं और उससे लाभ उठाते हैं। अपने उस विचार से बड़े आवश्यक तत्वों का आविष्कार करते हैं जिस से उनको तो लाभ होता ही है, संसारवासियों को भी लाभ होता है। राजा जनक भी ऐसे ही थे। एक बार राजा जनक अपने राजमहल में पलंग पर पड़े सो रहे थे। उसी समय उन्होंने एक स्वप्न देखा। उन्होंने देखा कि मिथिला राज पर किसी भारी शत्रु ने आक्रमण किया है। चारों ओर शत्रुओं से द्वार नगर घिर गया है। दोनों पक्ष में युद्ध आरम्भ हो गया।

जनकराज की सेना ने बड़ा पराक्रम दिखाया पर प्रबल शत्रु का सामना वे न कर सके। शत्रुओं ने राजधानी पर अधिकार कर लिया। जनक का अधिकार जाता रहा। ये वहाँ से भाग गये। वन में भटकते फिरे, बड़े बड़े कष्ट उठाये। अन्त में भाग्यवश एक नगर मिला। राजा बहुत दिनों से भूखे थे। उन्होंने भीख माँगकर खिचड़ी का सामान इकट्ठा किया। और वे खिचड़ी बनाने लगे। खिचड़ी तैयार हुई। राजा ने सोचा कि बिना घी के खिचड़ी कैसे खायी जायगी। इस लिये वे घी माँगने चले। कई जगह माँगने से थोड़ा सा घी मिल गया। राजा ले आये और खिचड़ी तैयार कर खाने के लिये किसी दुकान के नीचे अच्छी जगह गये। राजा भोजन करने के लिये बैठना ही चाहते थे कि दो साँड़ वहाँ लड़ते लड़ते आये जिससे खिचड़ी जमीन पर गिर गयी और धूल में मिल गयी। इससे राजा को दुःख हुआ। उन्होंने कहा—हाय ! यह भाग्य है ! यह प्रारब्ध का खेल है ! मेरा ऐसा भाग्य ! अब मेरी क्या गति होगी ? इसी समय राजा की नींद टूट गयी। नींद टूटने के साथ ही साथ स्वप्न की सभी बातें अदृश्य होगयीं। राजा जनक ने देखा कि सामने दास दासी वृन्द खड़े हैं और उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित कमरे में वे बहुमूल्य पलंग पर बैठे हैं। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे चिन्तामग्न होगये सोचने लगे कि कौन बात ठीक है। स्वप्न वाली या जो अब देख रहा हूँ। राजा जनक सोकर

उठे थे । दास दासियाँ चारों ओर सेवा के लिये खड़े थे। पर राजा भ्रम थे, उदास थे। इससे उनके सेवकों को वड़ी चिन्ता हुई। राजा की तवियत कैसी है इस वात की शंका ने लोगों के मन को व्याकुल कर डाला। पर राजा ने किसी ओर भी ध्यान न दिया। उन्होंने सोच विचार कर एक प्रश्न वनाया—'यह सच कि वह' और विद्वानों के द्वारा इस प्रश्न का निपटारा कराना निश्चय किया। राजा की आज्ञा से वड़े वड़े विद्वान देश विदेश से बुलाये गये। राजमहल में उनका आदर सत्कार हुआ। और उनके सामने यह सच कि वह-प्रश्न उपस्थित किया गया। इस प्रश्न का उत्तर देना सीधा न था। कठिन था और वड़े विद्वानों के लिये भी कठिन था। कोई विषय तो था नहीं फिर उत्तर क्या दिया जाता। राजा का प्रश्न एक पहेली था और पहेली का उत्तर देना सभी का काम नहीं है।

एक दिन एक वड़े विद्वान राजा के पास आये राजा ने उन्हें अपने सिंहासन पर वैठाया और उनके सामने अपना प्रश्न रखा। पर उन पण्डित जी की भी वही दशा हुई जो औरों की हुई थी। पण्डितजी जाने के लिये उद्यत हुए। राजा ने कहा—महाराज। मैं आपका सेवक हूँ। मेरे लिये यह प्रश्न इतना कठिन है कि मैं स्वयं इसका कोई समाधान नहीं कर सकता। और जवतक इस प्रश्न का सामाधान नहीं होता तव तक मेरे चित्त की चंचलता दूर नहीं हो सकती। अतएव मेरी प्रार्थना है कि आप तव तक यहीं रहे। आप स्वयं इस

बातका विचार करें और मेरे प्रश्न का समाधान करें। आपके समान विद्वान के लिये यह काम कठिन नहीं है। अतएव मेरे इस निवेदन पर ध्यान दें और तब तक यहीं रहने की कृपा करें जब तक मेरे प्रश्न का समाधान न हो।

एक समय राजा जनक पालकी में बैठ कर घूमने के लिये गये। उनके साथ अन्य राजकर्मचारी थे। कई घुड़ सवार भी थे। राजा की सवारी एक गली में गयी। रास्ता चौड़ा न था। मुश्किल से उधर से राजा की पालकी निकल सकती थी। उसपर उस रास्ते के बीच में एक बालक बैठा था जिसके अंग कई जगह से टेढ़े थे। उसका हटना आसान नहीं था। राजा के नौकरों ने उसे हट जाने के लिए कहा। एक घुड़ सवार उस बालक के पास पहुँच कर उससे बोला—कौन है रे? किनारे हट। राजा जनक की सवारी आ रही है। घुड़ सवार की बातें सुनकर उस बालक ने क्रोध से कहा—क्या तुम अन्धे हो? क्या तुम्हारी आखों से दिखायी नहीं पड़ता कि जो हमसे पूछ रहेहो कि तू कौन है। मूर्ख, रास्ता छोड़ने का अधिकार किसको है यह तू जानता नहीं है। तेरी तो क्या बिसात मेरी समझ से तेरे राजा को भी यह बात मालूम नहीं है। जा मैं मार्ग से नहीं हटता मैं तेरी आज्ञा नहीं मानता तू अपने राजा से जाकर कह कि मार्ग बन्द है दूसरे मार्ग से जावे। घुड़सवार को इस बालक की बातों से बड़ा आश्चर्य हुआ। वह एक शब्द भी न बोल सका। वह राजा के पास लौट गया और राजा जनक से सभी बातें उसने कह सुनायी।

राजा ने कहा—मंत्री तुम जो वातें वतला रहे हो उनसे मालूम पड़ता है कि उस वालक का कहना ठीक है। उसके चिन्हों, यज्ञोपवीत आदिको देखकर तुम्हें स्वयं ज्ञान लेना चाहिये था कि यह ब्राह्मण है। पूछना उचित न था, उसको मार्ग से हट जाने की तुम्हारी आज्ञा भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसा तुमने वतलाया, वह ब्राह्मण वालक मालूम पड़ता है हम लोग क्षत्रिय हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय के लिये रास्ता नहीं छोड़ सकता, दूसरी वात यह है कि उनके शरीर की जैसी दशा है उसको देखते हटने के लिये उनसे कहना उचित नहीं मालूम पड़ता। मंत्री, इन वातों पर जव मैं विचार करता हूँ तो मुझे मालूम पड़ता है कि वह वालक कोई तेजस्वी मालूम पड़ता है। मैं उसे देखना चाहता हूँ। तुम पुनः उसके पास जाओ और उसे मेरे यहाँ ले आवो। राजा की आज्ञा से मंत्री पुनः उस वालक के पास गया और जाकर के उसने कहा— ब्राह्मण पुत्र! मैं आप को नमस्कार करता हूँ। मेरे अपराध क्षमा करें। ब्राह्मण पुत्र! राजा जनक आप को वुलाते हैं। आप के लिये रास्ते में खड़े हैं। कृपा करके आप उनके पास चलें। वालक ने कहा—यह वड़े आश्चर्य की वात है। इतनी वड़ी गुस्ताखी! जो राजा प्रजा को न्याय पर चलाता है, जो राजा प्रजा को न्याय मार्ग से विचलित नहीं होने देता, वही यदि स्वयं न्याय मार्ग का तिरस्कार करे तो इससे व्रढ़ कर आश्चर्य क्या हो सकता है। ऐसी दशा में क्या वह राजा अपनी प्रजा को सन्मार्ग पर चला सकता है। राजा यदि

न्यायासन पर बैठा हो तो उसे अधिकार है कि वह सबको अपने पास बुलावे। पर तुम्हारा राजा तो यहाँ मार्ग में खड़ा है फिर वह मुझ अशक्त ब्राह्मण को क्यों बुलाता है? इसे उन्माद कहते हैं। जाकर अपने राजा से कहो 'मैं नहीं आ सकता। वे आना चाहें आवें।' राजा ने मंत्री से बातें सुनीं और उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने मन में कहा— अवश्यही यह कोई साधारण बालक नहीं है। इसके पास चलना चाहिये और इसको देखना चाहिये। राजा उस बालक के पास गये। राजाने प्रणाम करके कहा—महाराज! आपका स्वागत है। आपने हमारे नगर में पधार कर बड़ी कृपा की। आपके पिताका क्या नाम है और आपका क्या नाम है? आपका इस नगर में पधारने का उद्देश्य क्या है? बालक का स्वरूप बड़ाही विलक्षण था उसको देखते ही हँसी आती थी। पर राजा को भय था कि कहीं यह क्रोधी बालक शाप न दे दे। इस लिये राजाने अपनेको बड़े प्रयत्न से सँभाला और ऊपर लिखे प्रश्न पूछे। बालक ने राजा के प्रश्नों का उत्तर दिया—कि मेरे पिता का नाम—होड ऋषि हैं। मेरे पिता का निवास स्थान सरस्वती तीर पर है, पर वे घर नहीं रहते। इससे मैं अपनी माता के साथ ननिहाल में रहता हूँ। मेरा नाम अष्टावक्र है। क्योंकि मैं अङ्गों से टेढ़ा हूँ। मैंने सुना है कि राजा जनक का एक सन्देह है और उसीको दूर करने के लिये उन्होंने अनेक ऋषि मुनि बुलाये हैं पर उनका समाधान अभी तक नहीं हुआ है। मैंने यह भी सुना है कि राजा ने

उन ऋषि मुनियों को अपने यहाँ रोक रखा है और वे बेचारे कुटुम्ब से दूर कई वर्षों से पड़े हैं पर अभी तक उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं मिला। इसमें सम्भवतः राजा का यह विचार हो सकता है कि देश में अब कोई विद्वान नहीं रह गया है। इसी कारण मैं आया हूँ। क्या वह राजा जनक तुम्हीं हो? तुम्हारा कैसा प्रश्न है जिसका उत्तर अभी तक नहीं मिला।' राजा बोले—आप मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिये कष्ट कर पधारे हैं यह बड़े आनन्द की बात है। आप कृपा कर मेरे स्थान पर पधारें, मुझे पवित्र करें, मेरे स्थान को पवित्र करें। मैं वहीं अपना प्रश्न निवेदन करूँगा। अष्टावक्र ने राजभवन में जाना स्वीकार किया। राजा की आज्ञा से अष्टावक्र एक अच्छे स्थान में ठहराये गये। उनके रहने का सब प्रबन्ध किया गया। दूसरे दिन एक बड़ी सभा हुई। उसमें अनेक विद्वान ऋषि मुनि आये। अष्टावक्रजी भी बुलाये गये। अष्टा-वक्र का नाम लोगों के लिये एक आश्चर्यप्रद बात थी। उनके स्वरूप के विषय में जो चर्चा थी वह और भी लोगों को उनके दर्शन के लिये उत्सुक बनाती थी। इसी समय अष्टावक्र आये। उनके अङ्ग कई जगह से टेढ़े थे। इस विलक्षण मूर्ति को देखने से स्वाभाविक हँसी आती थी। जब अष्टावक्रजी राजसभा में पधारे उस समय उनको देखने से लोगों को हँसी आ गयी। लोगों को हँसते देख अष्टावक्रजी भी हँसने लगे। राजा ने उनका स्वागत किया और ले जाकर उचित स्थान पर बैठाया। राजाने पूछा—महाराज! आपके हँसने का क्या

कारण है। अष्टावक्र ने कहा—'तुम्हारी इस मूर्ख सभा को देखने से हँसी आगयी। पर तुम क्यों हँसे, इसका कारण बतलाओ।' राजा ने कहा–इसका कारण मैं कहता हूँ और जो मैं समझता हूँ वही सच्ची बात मैं कहता हूँ, आप क्रोध न करें। मेरे मनमें इस समय यह विचार आ रहा है कि जिस प्रश्न का उत्तर बड़े बड़े विद्वान ऋषि मुनियों से भी नहीं हो सका उसका उत्तर आप कैसे दे सकेंगे।' अष्टावक्र ने कहा— राजा! तू मूर्ख है, इसीसे मुझे हँसी आयी। जो गुण दोषों का विचार नहीं कर सकता, अच्छे बुरे को पहचान नहीं सकता ऐसे सभासदों को साथ लेकर तुम प्रजा की भलाई कैसे कर सकते हो? उनका पालन कैसे कर सकते हो? राजसभा में सर्व गुण सम्पन्न, सत्यासत्य विवेकी, प्रौढ़ विचारवान पुरुषों की आवश्यकता है। पर मैं देखता हूँ कि तुम्हारी सभा में नर शरीर धारी पशु एकत्रित हैं। और इनकी सहायता से तुम प्रजापालन का दावा करते हो इससे बढ़ कर हँसी की और कोन सी बात होगी? राजन्! प्यास से मनुष्य को गंगा के जल की आवश्यकता है या गंगातीर के सुन्दर होने की। यदि तीर सुन्दर हुआ, बीच में जल न हुआ तो क्या प्यास बुझ जायेगी? भूखे मनुष्य को अन्न चाहिये या सोने चाँदी के बर्तन? मैं टेढ़ा हूँ, कुबड़ा हूँ, मेरे हाथ पर टेढ़े हैं पर इससे क्या, तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर तो मेरे ये अंग देंगे नहीं, तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मेरी वाणी देगी। पर वह कुबड़ी नहीं, टेढ़ी

नहीं, काली नहीं । अतएव तुम इन बातों की चिंता मत करो। तुम्हारा प्रश्न क्या है शीघ्र कहो। राजा ने उठ कर हाथ जोड़ कर पूछा, महाराज मेरा प्रश्न है—यह सत्य कि वह। अष्टावक्र ने कहा—बस, इसी प्रश्न को तुम ने इतना बड़ा बना रखा है। इसी लिये अनेक ऋषियों, मुनियों को अपने यहाँ ठहरा कर तुम कष्ट दे रहे हो ? राजा जनक ! तुमने अपने प्रश्न को गोल माल बना कर बड़ी भारी भूल की। यदि तुम ने साफ साफ पूछा होता तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर बहुत पहले मिल गया होता। पर तुमने वैसा नहीं किया। अपने प्रश्न को गोल माल बना कर अपने आप भी उलझन में पड़े और दूसरों को भी तुमने उलझन में डाल दिया। अच्छा जैसा गोल माल प्रश्न है वैसाही उत्तर भी सुनो। "जैसा यह वैसा वह" इन दोनों में कोई भेद नहीं। जैसा वह था, दीख पड़ता था पर है नहीं वैसा ही यह भी है, दीख पड़ता है पर है नहीं, इस बातको सुनते ही राजा मुनिके चरणों पर गिर पड़े और सद्गुरु २ कहने लगे। बात यह थी कि राजा के प्रश्नों का उत्तर हो चुका था। पर सभासदों का शक इस बात से और बढ़ गया। क्योंकि राजा के इस प्रश्न ने लोगों में एक आश्चर्य उत्पन्न कर दिया था। लोग उसके विषय में कुछ समझ नहीं सकते थे। जो बात प्रश्न रूप में समझ में नहीं आती वह उत्तर से समझी जा सकती है। पर उत्तर भी गोलमाल ही हुआ। इससे सभासदों की तृप्ति नहीं हुई। उन लोगों ने हाथ जोड़ कर कहा—महाराज !

आप की शंका दूर हो गयी पर, हम लोगों की शंका बढ़ गयी। कृपा कर आप हम लोगों की ओर से मुनि महाराज से निवेदन करें कि वे इस प्रश्नोत्तर को विशद रूपसे समझावें। इस निवेदन को सुन राजा ने कुछ न कहा। अष्टावक्रजी बोले–राजा ! इन लोगों का कहना ठीक है। मेरे इस उत्तर से केवल तुम्हारा ही समाधान हुआ है अतएव अब मैं इसको और विस्तार के साथ कहता हूँ। अष्टावक्र ने कहा–स्वप्न में जो दृश्य दिखलायी पड़ता है, जो बातें सुनायी पड़ती हैं वे सब असत्य हैं। उसी प्रकार से इस संसार के दृश्य भी असत्य हैं। जैसा स्वप्न वैसा संसार। इसी कारण विवेकी महात्माओं ने संसार को स्वप्नवत् माना है। राजा ने स्वप्न में राज्य खोया, इन्हें भूख लगी, ये बाजार बाजार भीख माँगते फिरे बहुत कष्ट उठा कर हँड़िया में खिचड़ी बैठायी पर खाने के समय एक बैल आया और उसने हँड़िया फोड़ दी तथा खिचड़ी धूल में मिला दी। तात्पर्य यह हुआ कि राजा के सभी प्रयत्न आशा में ही बीते। फल कुछ न हुआ। भूख न मिटी,राजा की दशामें कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। राजा का यह राज्य उसी प्रकार है। इसके विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण दिया जा सकता है। जिस दिन राजा को स्वप्न हुआ उस समय का दुःख और नींद खुलने पर राज्य वैभव का सुख इस समय राजा के पास इन दोनों में की कौन वस्तु वर्तमान है। स्वप्न दशा का दुःख तथा नैराश्य का इस समय राजा नुभव कर रहे हैं अथवा स्वप्न के पश्चात् जो आनन्द

हुआ था वह क्या आज वर्तमान है। नहीं, इनमें एक भी वर्तमान नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न झूठा है उसी प्रकार यह संसार झूठा है। ये दोनों विनाशी हैं। इनमें भेद केवल इतना ही है कि एक शीघ्र विनाशी है और दूसरा कुछ दिन ठहर कर विनाश को प्राप्त होता है। एक नींद की अवस्था में दीख पड़ता है, दूसरा जागरण की अवस्था में। एक की असत्यता कुछ दिनों के बाद समझ में आती है। स्वप्न के उदाहरण में संसार की असत्यता बतलाना ही स्वप्न बनाने का परमात्मा का उद्देश्य है। हम लोग चित्र देखते हैं, चित्र में उसी आदमी का पूरा पूरा स्वरूप हम लोग देखते हैं। उसी प्रकार स्वप्न में संसार का चित्र है, संसार का पूरा पूरा रूप उसमें देखा जा सकता है। इसीलिये मैंने कहा कि जैसा वह वैसा यह। इसमें भेद नहीं। पर, स्वरूप जानने के लिये सारासार विवेक की आवश्यकता है। स्वप्न सभी को आते हैं पर उनके सत्यासत्य के निर्णय की सच्ची जिज्ञासा राजा जनक के समान मनुष्यों ही के हृदय में उत्पन्न होती है। यदि राजा जनक के हृदय में यह सन्देह उत्पन्न न होता तो इस स्वप्न को इतना महत्व न मिलता। किसी बात का निर्णय भी न होता।"

अष्टावक्र की बातें सुन समूची सभा आनन्दित हुई। वृद्ध ऋषि मुनि अष्टावक्र जी की प्रशंसा करने लगे और उनके दीर्घजीवी होने की कामना करने लगे। राजा जनक उनके चरणों पर गिर पड़े और हाथ जोड़ कर उन्होंने कहा—महाराज! आपने मेरा सन्देह दूर किया पर एक नया सन्देह उत्पन्न हो गया

कृपा कर आप हमारे इस सन्देह को भी दूर करें। राजा ने कहा—यह बात तो समझ में आयी कि जैसा वह वैसा यह। अर्थात् दोनों असत्य हैं। पर ऐसी दशा में सत्य क्या है, सार क्या है, यह प्रश्न स्वभाव से ही उठता है। अतएव महाराज! दास की यह बड़ी नम्र प्रार्थना है। गुरुदेव इस प्रश्न का उत्तर देकर दास को कृतार्थ करें।

संसार और स्वप्न दोनों असार हैं। पर सार कौन है, इस प्रश्न के उत्तर में अष्टावक्र ने कहा-राजा तुम ने इस प्रश्न के द्वारा अपनी मुमुक्षुता प्रकाशित की है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रश्न के रहस्य जानने वालों की तो बात ही दूसरी है। केवल इस प्रकार की जिज्ञासा करनेवाला पुरुष भी भाग्यशाली समझा जाता है। अच्छा, अब अपने प्रश्न का उत्तर सुनो। संसार और स्वप्न ये दोनों मिथ्या हैं, असार हैं, पर इसका अनुभव होता है। अनुभव करनेवाला कोई पदार्थ है वही सार है। और वह स्वयं परमात्मा है। वह समस्त संसार में व्याप्त हो रहा है। इस लिये उसका नाम विष्णु है। तुम, मैं ये ऋषि तुम्हारे सभासद् तथा इस समस्त चराचर विश्व में यह साक्षी रूप से वर्तमान है वही नित्य है और सार है। पुराण तथा वेद उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। उसी की प्राप्ति के लिये भक्त भक्ति करते हैं, ज्ञानी विचार करते हैं और योगी ध्यान करते हैं, वही इस विश्व को अपनी इच्छा से उत्पन्न करता है। इसका पालन तथा संहार करता है। युग युग में अवतार धारण कर धर्म की स्थापना करता है। ज्ञानियों और भक्तों

की बड़े प्रेम से रक्षा करता है । वही इन्द्रादि देवताओं के रूप में तथा समस्त प्राणियों के रूप में प्रकाशित हो रहा है । वही जड़ और चैतन्य है । सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है । वह निर्गुण भी है सगुण भी है । वही निराकार है और साकार भी है । वही अमूर्त है और मूर्तिमान है, वह सर्वत्र है । उसके लिये सभी बातें कही जा सकती हैं । वह सब जगह देखा जा सकता है । वही सार है । राजन् ! तुम उसी को सार समझो । अष्टावक्र के इन उपदेशों को सुन कर राजा की समूची सभा चित्र के समान हो गयी । राजा आनन्द से गद्‌गद् हो गये । उन्होंने सोचा—मुझ अज्ञानी को आज सद्-गुरु मिले । स्वयं परमात्मा ने ही कृपा कर मेरे अज्ञान को दूर करने के लिये इन ज्ञान मूर्ति को भेजा है । बड़े भाग्य से यह समय मुझे मिला है । इस अमूल्य समय को व्यर्थ नहीं खोना चाहिये । इनसे जरूर तत्व उपदेश ग्रहण करना चाहिये । उन्होंने कहा—हे गुरो ! कृपालो, मेरे पूर्व जन्म के किसी भाग्य से ही आप यहाँ आये हैं, कृपा कर इस सार पदार्थ को पर-मात्मा का स्वरूप मुझे बतलावें । परमात्मा कैसा है, उसका स्वरूप कैसा है यह मैं जानना चाहता हूँ, कृपा कर बतलाइये । महाराज ! मैं अज्ञानी हूं, पामर हूँ, इसका आपको साक्षात् अनुभव है । ऐसे पामर अज्ञानी का उद्धार आप ही के समान ब्रह्मज्ञानी महात्माओं के द्वारा हो सकता है । आप मेरे अधि-कारी या अनधिकारी होने का विचार न करें । सूर्य इन बातों की ओर ध्यान नहीं देता । वह सब स्थान से अंधकार हटाता

है । सबको प्रकाश देता है। कौन पापी है,पुण्यात्मा है इन बातों का विचार किये बिना ही महात्मा जन सब पर समान रूपसे कृपा करते हैं । अतएव, मेरी प्रार्थना आप स्वीकार करें, मुझे उपदेश दें । परमात्मा का स्वरूप कैसा है, इस प्रश्नके उत्तरमें अष्टावक्रजी ने कहा-राजन् । उपदेश पीछे सुनना । तुम्हारे जिन प्रश्नोंके उत्तर मैंने दिये हैं उनकी दक्षिणा अब मुझे मिलनी चाहिये । राजाने अपने कोषाध्यक्ष को आज्ञा देकर सोनेके बड़े बड़े थालों में रत्न मँगवाये और वे दोनों थाल अष्टावक्रजी के सामने अर्पित किये । उन थालों को देख कर अष्टावक्रजी हँसने लगे उन्होंने राजा से कहा-महाराज, मैं इन थालों को लेकर क्या करूँगा ? राजा, तुम दो थाल रत्न हम को देना चाहते हो पर तुमको मालुम नहीं कि येरत्न राशियों को एक क्षण में उत्पन्न करने की शक्ति हम लोगों में वर्तमान है । सिद्धियाँ दासीके समान हम लोगों के सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं फिर उनथालों को लेने से हम को क्या संतोष होगा । एक और बात है, धनकी इच्छा से हम तुम्हारी सभा में नहीं आये हैं, प्रतिष्ठा भी हम नहीं चाहते हम तो तुम्हारी सभामें इसलिए आये कि यदि तुम्हारी शंकाओं का उत्तर न होगा तो तुम समझ लोगे कि अब ब्राह्मणों का वह महत्त्व नहीं, अब उन में वैसी योग्यता नहीं । तुम्हारी ऐसी समझ ब्राह्मणों केलिये कलंक की बात होती । तुमने अपनी शंका मिटाने के लिये अनेक ऋषि मुनियों को बुला रखा था, उनको घर नहीं जाने देते थे, वह अपने

कुटुम्ब से दूर तुम्हारे नगर में रहकर अनेक कष्ट उठाते थे। मैं तुम्हारी शंका दूरकर उन लोगों को छुट्टी दिलाने के लिये आया हूँ। मेरे इस कार्य से परमार्थ सेवा होगी। यही मेरे आनेका उद्देश्य है। राजन्! दक्षिणा में तुम वह वस्तु दो जिसे मैं चाहूँ। राजा ने कहा 'महाराज! आज्ञा कीजिये! जो आप की आज्ञा होगी वह वस्तु मैं आपकी सेवा में अर्पित करूँगा। अष्टावक्रजी ने कहा—'अच्छा तो तुम अपना तन, मन और धन ये तीनों वस्तु मुझे देदो।' राजाने संकल्प करके तीनों वस्तुएं मुनिको अर्पित करदीं और वे हाथ जोड़ मुनिके सामने जाकर खड़े हो उपदेश सुनने की प्रतीक्षा करने लगे। अष्टा-वक्र जी क्या उपदेश करते हैं, यह बात समूची सभा उत्सुक होकर देखने लगी। इसी समय बाहर से एक आवाज आयी, सभी उसी की ओर देखने लगे। एक दीन ब्राह्मण राज सभा में आया। उसने आकर कहा-महाराजा जनक! मैं दुःखी ब्राह्मण हूँ, मेरी रक्षा करो।' राजा जनक ने ब्राह्मण के दीन वचन सुने। दया से उनका हृदय गद्‌गद् होगया। उन्हों ने ब्राह्मण की ओर फिर कर देखने की और पूछने की इच्छा की कि 'तुमको क्या कष्ट है। मेरे राज्यमें तुमको किस दुष्टने दण्ड दिया है। पर इसी समय इनके मनमें यह विचार आया कि मैं तो अपना शरीर गुरु को अर्पण कर चुका हूँ, फिर मैं अब उसकी ओर किस अधिकार से देखूँ, किस अधिकार से पूछूँ। मैं तो शरीर दे चुका, वाणी पर मेरे कोई अधिकार नहीं। इस प्रकार विचार कर राजा ने ब्राह्मण को ओर देखा

भी नहीं। वे ज्यों के त्यों खड़े रहे। अपने लिये कोई आज्ञा देते न देख कर ब्राह्मण बहुत ही अधीर होकर विलाप करने लगा। उसने कहा—मैं ऋणी हूँ, ऋणके बड़े भारी बोझ से दबा हूँ। इस कारण महाजनों ने मेरी समस्त सम्पत्ति लेली है, फिर भी मेरा ऋण दूर नहीं हुआ। मेरे कुटुम्बी अन्न वस्त्र के विना दुखी हो रहे हैं। मेरे लिये कोई उपाय नहीं है, इसी से राजन्, मैं आपकी शरण आया हूँ। मैं इस समय दुःख, परम्पराओं से घिरा हूँ। आपकी शरण इसी आशा से आया हूँ। आपके अतिरिक्त और कौन मेरे इस दुःख को दूर करेगा. इसी लिये मैं निवेदन करता हूँ कि महाराज मेरे दुःख की ओर ध्यान दें। महाराज, केवल ध्यान देने से ही मेरे समस्त क्लेश दूर हो जायेंगे।

ब्राह्मण की यह प्रार्थना सुनकर राजा का हृदय बहुत व्याकुल हुआ। ब्राह्मणके दुख दूर करने के लिये उद्यत हुए। राजाने सोचा—ब्राह्मण को धनकी आवश्यकता है। धन देने से इसका कष्ट दूर होगा। इस समय धन भी यहीं पड़ाहै। इतना धन पाने से ब्राह्मणकी दरिद्रता दूर हो जायगी। जिस समय राजा यह सोच रहे थे कि यह धन ब्राह्मण को दे दिया जाय उसी समय यह बात उन्हें स्मरण हुई कि यह धनतो मेरा नहीं इसपर तो मेरा अधिकार नहीं मैं तो अपना समस्त धन गुरु को दे चुकाहूँ। इस पर गुरुका अधिकार है। मैं इस धन को देने वाला कौन होता हूँ यह सोच कर राजा चुप चाप खड़े रहे। उन्होंने ब्राह्मण से कुछ भी नहीं कहा। केवल

गुरु की ओर देखते रहे। राजा जनक का यह आचरण देखकर ब्राह्मणको आश्चर्य और क्रोध आया। उसने सोचा—गौ ब्राह्मण-प्रति पालक राजा जनक के सामने मैं इस तरह अपना दुखड़ा सुना रहा हूं और ये चुप हैं। राजाका तिरस्कार करता हुआ वह बोला—कैसा विपरीत समय आया है। हाय! इस युगमें भी कलियुगके दृश्य मुझे देखने पड़ते हैं। मुझे धिक्कार है कि मैं ऐसे लोभी, दाम्भिक राजाके पास अपना दुखड़ा सुनाने आया हूँ। इस राजाने झूठही अपने को गौ ब्राह्मण प्रति पालक प्रसिद्ध कर रखा है। इससे तो मेरे लिये अच्छा होता कि किसी कुएं में गिर कर प्राण दे देता और इस दुःख से छुटकारा पाता। ऐसा करने से मुझे दाम्भिक राजा का मुँह तो देखना नहीं पड़ता। ऐसे राजा को भी धिक्कार है जिसके द्वार से अतिथि निराश जाता है। धिक्कार है उन मनुष्यों को जो इस राजा का असली रहस्य न जानकर इसकी कृपणता, अल्पबुद्धि का ज्ञान न रखकर सदा इसकी प्रशंशा किया करते हैं। अरे राजा, मेरे दीन वचनों को सुनकर तुम मेरे दुख तो कहां तक दूर करेगा उत्तर तक तुझसे देते नहीं बन पड़ता। क्या कहूँ समय की बलिहारी है। ब्राह्मणकी इन बातों को सुनकर राजासोचने लगे इस ब्राह्मणका कहना सच है। मेरे द्वारसे अतिथि का निराश जाना मेरी प्रतिष्ठा में धब्बा लगाता है। राजा यह सोचही रहे थे कि उसी समय उनके मनमें एक दूसरा विचार आया। राजा सोचने लगे—मुझे इन बातों के सोचने का क्या अधिकार। मन भी तो मेरा नहीं है। मैंने अपना मन

भी तो गुरु को अर्पित कर दिया है। मेरा तन नहीं, मन नहीं और धन भी नहीं। ऐसी दशा में ब्राह्मण का उपकार ही क्या कर सकता। इस ब्राह्मणने क्रोधसे जो बातें कही हैं उनका प्रभाव मन पर कुछ भी नहीं। मैं उन वचनों का पात्र नहीं। यह सोचकर राजा चुप चाप हाथ जोड़े गुरुकी ओर देखते रहे। उस समय मालूम पड़ता था कि राजा जड़ हैं, उनपर किसी भी बातका प्रभाव नहीं पड़ता। अष्टावक्रजी ये सब बातें देखते रहे। उन्होंने राजा की दशा देख कर राजा से पूछा-'आप कौन हैं'। राजाने कहा-मैं जनक हूँ। अष्टावक्रने राजाके शरीर को धिक्कार कर कहा कि इसमें तुम जिसको जनक कहते हो, तुम्हारे शरीरमें जनक कहाँ है? क्या तुम मुझे बतला सकते हो, क्या तुम अपने मस्तक को, मुहँ को, हृदय को, पेट को, पैर को या बुद्धिको इनमें से किसको जनक कहते हो?' इस प्रश्नका उत्तर राजा से देते न बना। राजा चुप चाप खड़े थे। जैसे पहले जड़के समान खड़े थे वैसे ही अब भी बने रहे। यह देख कर अष्टावक्रजी ने कहा-राजा यही तुम्हारे लिये ब्रह्मोपदेश है और सच्चिदानन्द स्वरुप ब्रह्म है।

यह सुन कर राजा जनक ने कहा—महाराज! अब मैं वन में जाऊँगा, मुझे राज्य से क्या प्रयोजन? अष्टावक्र जी ने कहा—तुम वन में कैसे जाओगे? या मेरी आज्ञा के बिना जाओगे? तुमने अपना तन, मन और धन सभी मुझे दे दिया है। अब तुम्हारे पास क्या, अब तुम्हें जिस वंस्तु का त्याग

करना है विचारो। अष्टावक्र की बातें सुन कर राजा चुप हो गये। उन्होंने कोई उत्तर न दिया। तब अष्टावक्र जी ने कहा- राजा! जैसे कोई किसी को थाती रखने के लिये देता है और वह उस दी हुई थाती की रक्षा करता है उसी प्रकार तुम्हारे यह सब तन, मन, धन आदि हमारे हैं। और मैं तुम्हारे पास थाती के समान रखता हूँ। तुम इनकी रक्षा करो। नीति से इनका पालन करो। इस प्रकार करने से तुम देह के रहने पर भी विदेह रहोगे। इसके पहले कोई विदेह नहीं हुआ है। पर तुम यदि इस प्रकार रहोगे तो तुम अवश्य विदेह कहे जाओगे। इतना कह कर अष्टावक्र जी ने राजा को राजसिंहासन पर बैठाया और उस दुःखी ब्राह्मण को बहुत सा धन देकर विदा किया। वहाँ जो ऋषि उपस्थित थे उन लोगों ने अष्टावक्र जी को प्रणाम किया और उनके दीर्घ जीवी होने की कामना की। राजा ने सब ऋषियों का सत्कार कर उन्हें विदा किया। अष्टावक्र जी के पिता होड ऋषि वहाँ आ गये और उन्होंने मधुविला नाम की नदी में अष्टावक्र को स्नान कराया जिससे उनका शरीर सीधा हो गया और उस नदी का नाम समंगा पड़ा। अष्टावक्र जी अपने पिता और मामा के साथ वहाँ से अपने आश्रम को गये।

भर्तृहरि ।

आज से दो हजार वर्ष पहले उज्जयिनी नगरी न केवल भारत में ही किन्तु अन्य देशों में भी प्रसिद्ध थी । इस नगरी की प्रसिद्धि का कारण यह था कि भारत का सम्राट वहीं रहता था । प्रसिद्ध भारतीय सम्राट् विक्रमादित्य की वहीं राजधानी थी । विक्रमादित्य ईसवी सन् के पहले ही वहाँ राज्य करते थे । विक्रम के पहले इनके बड़े भाई भर्तृहरि राजा वहीं के शासक थे । इनके पिता का नाम गन्धर्वसेन था । गन्धर्वसेन के पीछे कुल क्रमानुसार भर्तृहरि राजा हुए । भर्तृहरि विद्वान और नीति निपुण थे । इन्होंने चन्द्राचार्य से गहन शास्त्रों का अध्ययन किया था । वे स्वयं कवि थे, शास्त्रज्ञ थे, धर्मात्मा, प्रजापालक और अपने कार्य में सदा जागते रहते थे । प्रजा के साथ मिल कर उनके दुख सुख आदि की बातें जाना करते थे और उन्हें सुखी करने का प्रयत्न किया करते थे । उन्होंने अपने राज्य में विद्वानों, मूर्खों, धनियों, दरिद्रों आदि किसी पर अन्याय न होने पावे, राज कर्मचारी मनमाने ढंग से स्वार्थ के वशीभूत होकर प्रजा को सताने न पावे, आदि की उचित और उत्तम व्यवस्था की थी । राजकाज में सहायता देने के लिये आठ दीवान नियुक्त किये थे । वे सभी विद्वान, योग्य और नीतिज्ञ थे । अच्छे अच्छे

वीर इनकी सेना में थे। इनका सेनापति वीर, विद्वान और धीर था। इनकी सभा के सभासद् प्रायः सभी विद्वान थे। इन लोगों की सहायता से अच्छे ढंग से राज्य का कार्य चलता था। किसी पर अन्याय नहीं होने पाता था। सबके साथ विशुद्ध न्याय होता था। न्याय बेचा भी नहीं जाता था। घूस लेने वाले हाकिमों को प्राणदण्ड की आज्ञा होती थी। राजा की आज्ञा और तत्परता से राज कर्मचारी भी प्रजा के कल्याण के लिये सच्चे दिल से तैयार रहते थे। राजा की ओर से धर्मोपदेशक नियत थे जो नगरों और गावों में जाकर धर्मोपदेश दिया करते थे। राजा की ओर से पाठशालाएँ और औषधालयें स्थापित थीं। विना फीस के वैद्य रोगियों की चिकित्सा करते थे। रुपया न खर्च होने के कारण रोग से कोई तड़पता न था। प्रजा सुखी थी।

कालिदास कहते थे कि ब्रह्मा अपनी सृष्टि सम्पूर्ण नहीं बनाते, वे अधूरी सृष्टि बनाने के आदी हैं, सब उत्तम बना कर उसमें कुछ न कुछ कमी रख छोड़ते हैं। राजा भर्तृहरि भी इस उक्ति के उदाहरण से बाहर न थे। राजा भर्तृहरि को तीन रानिया थीं। इन रानियों में पिंगला नाम की रानी सब से सुन्दर थी। इस कारण राजा उसके वश हो गये थे, राजा स्वयं गुणी थे, न्यायी थे, विवेकी थे, पर पिंगला को विना परीक्षा किये ही उसके वश में हो गये। पिंगला ने राजा को यह दशा देख कर और भी उन्हें अपने अधीन करने के उपाय किये। कामांध हो राजा रूप के फंदे में फँस गया। अब राजा

का अधिक समय पिंगला के समीप ही बीतने लगा। पिंगला रानियों में प्रधान हुई। राजा उसके वश में हुए। पर दुराचारिणी पिंगला छिपो छिपी किसी साईस पर प्रेम रखती थी। राजा का अब क्रम बदल गया। राजा सदा ही रनिवास में रहने लगे इससे मंत्रिमण्डल इन पर असंतुष्ट रहने लगा। कितनों ने राजा को ठीक रास्ते पर आने के लिये समझाया भी। इनके कई अंतरंग मित्रों ने फटकार भी बतायी यद्यपि वे इसका फल जानते थे। राज कोप में पड़ने का क्या परिणाम होता है यह उन्हें मालूम था तथापि सन्मित्र के कर्त्तव्य से विवश हो कर उन लोगों ने राजा के दोषों को बतलाया और उससे होनेवाली हानियां भी समझायीं। पर राजा के ध्यान में कोई भी बात न आयी। क्योंकि राजा उस समय कामांध हो गया था। कामांध व्यक्ति का विवेक पहले ही नष्ट हो जाता है। प्रेमिका को ही सर्वस्वा समझने लगता है। उसे ही वह सब गुणों का आधार मानता है। इस कारण राजा भर्तृहरि के हृदय में पिंगला के विरुद्ध कोई भी बात स्थान नहीं पाती थी। वह रानी की ही बातों को सत्य और प्रामाणिक समझता था। अतएव मंत्रियों का उपदेश राजा पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका।

राजा भर्तृहरि के छोटे भाई का नाम विक्रमादित्य था ये शूरवीर, विद्वान् और धर्मात्मा थे। राज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। राज काज में ये बड़ी सहायता पहुचाते थे। राजा भर्तृहरि का भी इन पर विश्वास था। अतएव वे रोक

टोक इन्हें रनिवास में भी आने जाने की आज्ञा थी। विक्रमादित्य भी अपने वड़े भाई को पिता के समान और रानियों को माता के समान मानते थे और उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे। राज्य के कई विभागों का कार्य इनके हाथों में था। घोड़ों का अस्तवल भी इन्हीं के अधीन था। अश्वशाला के उन कर्मचारियों को जो बुरे थे, चोर थे उन्हें विक्रमादित्य ने दण्ड दिया था। और जिस साईस का पिंगला से प्रेम था उस पर भी विक्रमादित्य की तीखी नजर पड़ती थी। उसके कार्यों पर ये असंतुष्ट थे तथा उसके अपने कार्य पर ध्यान न देनेके कारण भी वे रुष्ट रहेथे। वह साईस वात ताड़गया और विक्रमादित्य की तीखी नजरका परिणाम भी वह समझ गया।

राजा भर्तृहरि ने एक दिन विक्रमादित्य को बुलाकर कहा—भाई तुम्हारी निष्कपट धर्म वृत्ति देख कर मैं प्रसन्न हूं, अब राज्य का और काम भी तुम अपने हाथ में ले लो, जिससे मेरा भार हल्का हो जाय, प्रजाको सब प्रकार से सुखी रहने का उपाय करना ही राजनीति का सर्वोत्तम सिद्धांत है। इसी प्रकार और भी वातें कह कर राजा ने राज्य के और कई अधिकार विक्रमके हाथों में सौंप दिये। विक्रम भी वड़े भाई के आदेशानुसार अपने अधीन के विभागों का न्याय और तत्परता के साथ प्रवन्ध करनेलगे। साईस विक्रमकी शक्ति बढ़जाने के कारण और भी भयभीत रहने लगा। अन्त में उसने पिंगला से यह बात कही और विक्रम को निकलवाने के लिये प्रयत्न भी वतलाये। दुराचारिणी स्त्रियों के लिये संसार में कुछ भी

असाध्य नहीं होता। पिंगला विक्रमादित्य पर कलंक लगा कर उन्हें निकलवाने के लिये तैयार हो गयी और उसने एक दिन राजा से कह दिया कि एक दिन विक्रम मेरे यहाँ आया था और उसने दुराचार की मुझसे बातें कीं। पिंगला का इतना कहना काफी था। राजा भर्तृहरि को पहले इस बात से आश्चर्य हुआ क्योंकि उन्हें विक्रमादित्य की धार्मिकता और सदाचारिता पर विश्वास था। पर पिंगला की बातों के सामने वह टिक न सका। राजाने विक्रम को बुलाकर सब बातें कह सुनायीं। राजा की तीखी और असत्य बात सुन कर विक्रम अवाक् रह गया। उसके मुँह से बोली न निकली। थोड़ी देर के बाद सावधान होकर विक्रम ने कहा कि–आप यह क्या कह रहे हैं. आप विवेकी हैं, आप को समझ बूझ कर जाँच पड़ताल कर ऐसी बातें कहनी चाहिये। मैंने स्वप्न में भी दुष्ट संकल्प नहीं किया है। मैं पिङ्गला को अपनी माता के समान समझता हूँ। मैंने नीति मार्ग का कभी भी उल्लंघन नहीं किया। आप क्या कह रहे हैं। आपकी बातों से मैं आश्चर्यित हो गया हूं। मेरे व्यवहारों का आपको पता है ऐसी दशा में आप सन्देह क्यों कर रहे हैं? महाराज! अभी समुद्रों ने अपनी मर्यादा नहीं छोड़ी है, अभी सूर्य में प्रकाश विद्यमान है, अभी हंस कौओंके समान नहीं चलते, अभी सिंह घास खाने के लिए नहीं जाता, अभी सज्जनों के हृदय में दया वर्तमान है, अभी पश्चिम में सूर्योदय नहीं होता अभी पुत्रका माता पर प्रेम वर्तमान है, ऐसी दशामें मैं नीति विरुद्ध नीच

आचारण कैसे करूंगा। मेरे विषय में आपका ऐसा विचार क्यों हुआ। जबसे मुझे ज्ञान हुआ तबसे मैंने आज तक आपकी सेवा प्रेम पूर्वक की है शास्त्रों में बड़े भाई के प्रति छोटे भाई के और प्रजा के जो कर्त्तव्य बतलाये हैं उनका पालन आज तक मैं ने किया है। ऐसी दशा में आपकी बातों से मैं विशेष मर्माहत हुआ हूँ। आपकी बातें मुझे वज्र के समान प्रतीत होती हैं। आप इन बातों को जांच करें तब आप को इनका रहस्य मालूम हो जायगा।

राजा भर्तृहरि ने कहा—तुम कल रनिवास में गये थे या नहीं। विक्रम ने कहा-नहीं, कल मैं आप से राज महल में मिल चुका था, अतः वहां जाने की कोई आवश्यकता न थी और रात्रि में अपने घर में शिव पूजन करता था। भर्तृहरि ने कहा—शिवरात्रि के दिन महाकालेश्वर के अभिषेक में तुम सब लोगों के साथ शामिल क्यों न हुए? विक्रम ने कहा—मैं सदा एकान्त में शिवपूजन करता हूं यह बात सबको मालूम है और आप भी इसे जानते हैं। इसी प्रकार की और भी कई बातें विक्रम ने अपने निर्दोष होने के प्रमाण में कही, पर राजा के ध्यान में कोई भी बात न आयी। उन्होंने विक्रम को देश निकाले का दण्ड दे दिया। राजाज्ञा सुनकर विक्रम ने कहा—भरत और लक्ष्मण की जैसी भक्ति रामचन्द्र पर थी, भीम और अर्जुन की जैसी भक्ति युधिष्ठिर पर थी,-वैसी ही शुद्ध भक्ति मेरी आप पर है। आप इस प्रकार मुझ पर बिना विचारे क्रोध करते हैं यह

ठीक नहीं क्योंकि मुझे इन बातों का विलकुल पता नहीं। मैं रनिवास में तीन दिन से नहीं गया। पिंगला की दासी को मैंने देखा भी नहीं है, ये सब बातें बनावटी हैं आप धर्मात्मा और न्यायी होकर भी मुझ पर ऐसा दोषारोपण करते हैं इससे मालूम पड़ता है कि दैव की कुछ दूसरी इच्छा है। मालूम होता है कि इस देश पर कोई बड़ी आपत्ति आने वाली है। सम्भवतः यह समूचा राज्य नष्ट होने वाला है। ऐसा न होता तो आपके हृदय में ऐसी बातों को स्थान क्यों मिलता?

राजा ने कहा—विक्रम चुप रहो। और अधिक न बोलो। क्योंकि तुम्हारी झूठी बातों से मैं अपवित्र हो रहा हूं। तू शीघ्र ही इस देश से निकल जा। विक्रमादित्य ने क्रोधसे कहा—मैं जाता हूं। मैं मालव देश का त्याग करता हूं। जिसके हृदय में कभी दुष्ट संकल्प उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसने आपको पिता के समान और आपकी स्त्री को माता के समान समझा है, जिसने आप लोगों के पुत्रवत् आचारण किया है उसे आज आप एक दुराचारिणी स्त्री के कहने से देश से निकाल देते हैं। अब इस देश में एक क्षण भी रहना मेरे लिये लज्जा की बात है। राजन्! सत्य छिपता नहीं। कभी न कभी उसका प्रकाश होता है। इस घटना के सम्बन्ध में यदि कभी ऐसा हो कि सत्य बात आपको मालूम हो जाय तो आपके हृदय में पश्चात्ताप होगा या नहीं यह तो मैं नहीं जानता और न जानने की आवश्यकता है, पर मेरे विषय में जो बुरे भाव इस समय वर्तमान है उन्हें बदल दीजियेगा। राजा से इतना कह कर

देश को प्रणाम किया, अपने कामांध भाई पर दया रखने की ईश्वर से प्रार्थना की और वहां से चले गये।

यह खबर चारों ओर फैल गयी। इस खबर को सुन कर मंत्रिमण्डल, सेनापति और प्रजा बहुत ही दुःखी हुई। राजा भी पिंगला के बनावटी प्रेम में फँसता गया। इससे राज्य में चारों ओर अव्यवस्था फैलने लगी। राज्य की दुरवस्था देख कर प्रधान मंत्री ने राजा से कहा-महाराज! राज काज में आपके ध्यान न देने से बड़ी हानि हो रही है। खजाने की भी दशा शोचनीय हो रही है। प्रजा का धन प्रजा की भलाई के लिये व्यय नहीं होता। प्रधान मंत्री राजा से यह बातें कर रहे थे उसी समय दरबारी वेश्या ने आकर राजा को अमर फल भेंट की। उस फल को देख कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि यह फल पहले ही राजा के पास आया था और उन्होंने पिंगला को दे दिया था। यह फल शांति-स्वरूप नामक एक ब्राह्मण को किसी ऋषि ने दिया था। ब्राह्मण ने सोचा कि यह फल खाकर यदि मैं अमर हुआ तो सदा ही मुझे भिक्षा मांगनी पड़ेगी और दुःख उठाना पड़ेगा। अतएव, यह फल राजा भर्तृहरि को देना चाहिये जो अमर होकर धर्मपूर्वक प्रजापालन करेगा और धर्म की रक्षा करेगा। ऐसा सोच कर ब्राह्मण ने उसे राजा को भेंट कर दी थी। राजा ने यह अमर फल पाकर सोचा कि यह फल मैं प्यारी पिंगला को दे दूँ जिससे वह सदा युवती बनी रहे। यह सोच कर राजा ने वह फल पिंगला को दे दिया। पिंगला का प्रेम साईस

पर था अतएव उसने उसे अमर बनाने के लिये वह फल दे दिया। साईस उस वेश्या पर अनुरक्त था अतएव उसने वह फल वेश्या को दे दिया। फल पाकर वेश्या ने सोचा कि यह फल खाकर यदि मैं अमर हुई तो सदा ही वेश्या का नीच कर्म करना पड़ेगा। अतएव यह फल राजा को देना चाहिये। इसे खाकर वह अमर हो जाय और सदा धर्मपूर्वक प्रजा पालन किया करे। यही सोच कर उसने वह फल राजा को भेंट दी। इस प्रकार वह अमर फल राजा के यहां से घूमता घूमता पुनः राजा के यहां पहुंचा था और जिससे अनेक रहस्यों के भण्डाफोड़ होने का साधन उपस्थित हो गया था।

फल को देख राजा ने घुड़क कर वेश्या से पूछा कि यह फल तुम्हें कहाँ मिला? वेश्या ने कहा कि यह फल मुझे साइस ने दिया है। साईस को बुलाकर राजा ने उसे डांटा और 'अमर फल कहां से मिला' यह पूछा। डर कर साइस ने रानी पिंगला से उस फल का मिलना बतलाया। राजा की आज्ञा से साईस के घर की तलाशी ली गयी। और वहाँ रानी की दी हुई अनेक वस्तुएँ मिलीं। राजा ने उस दासी को भी बुलवाया और उससे अनेक बातें मालूम कीं। इन बातों के जानने से राजा क्रोध से व्याकुल हो गये और वहाँ से उठकर पिंगला के पास गये, पर पिंगला को अभी तक इन बातों की खबर न थी। राजा ने भी जाकर अपने व्यवहारों से उसे कुछ जानने न दिया। पिंगला अपने पाति-व्रत्य का ढकोसला फैलाने लगी। राजा ने प्रसंग उठाकर

अमरफल की बात निकाली। पिंगला ने कहा, मैं तो कल ही आपके जाने पर वह फल खा गयी। पिंगला ने अपनी बात प्रमाणित करने के लिये शपथ भी खायी। तब राजा ने वह फल दिखलाया। फल को देखते ही पिंगला का मुंह काला हो गया। पर फिर भी उसने बात बनाना शुरू किया। अपनी निर्दोषिता बतलाने लगी। उसने दासी का दोष दिया। राजा ने दासी को भी बुलवाया और धमका कर उससे सब बातें उन्होंने पूछ लीं। पर इस पर भी पिंगला बोलती ही गयी। राजा को पहले से ही क्रोध आया था। पिंगला के इस आचरण ने उनका क्रोध और भी बढ़ा दिया। उन्होंने पिंगला को धिक्कार देते हुए कहा—तुमने मुझे पागल बना कर मेरा राज्य नष्ट किया, मैंने अपना धन, तन, मन तथा यह अमर फल सभी तुमको दिया। पर यह अमर फल तुम्हारे योग्य न था। इसका योग्य अधिकारी तो मैं था जिससे यह पुनः मेरे पास आया। ऐसा कहकर राजा ने वह फल खा लिया। उन्होंने कहा—पिंगला! तुमको धिक्कार है, है, तुम्हारे माता पिता को धिक्कार है और उस कुल को धिक्कार है जिसमें तुम्हारे समान नीच स्त्री उत्पन्न हुई। दुष्टा! तुम स्वयं पापिनी है, दासी का दोष नहीं है। सबसे अधिक दोष तो मेरा है जो मैं तेरे नीच व्यवहारों को शुद्ध समझ कर उसमें फँस गया। अच्छा अब आज से तुम अपना काला मुंह न दिखाना। मैं भी अब तुम्हारे सामने से चला।

राजा मनही मन सोचने लगे कि जिसका मैं सदा चिंतन

करता हूँ वह मुझसे प्रेम नहीं रखती और वह दूसरे पुरुषको चाहती है । वह पुरुष भी किसी दूसरे पर अनुरक्त है, मुझपर प्रेम रखने वाली कोई दूसरी ही है । अतएव उस स्त्री को धिक्कार, उस पुरुष को धिक्कार, यह काण्ड करानेवाले काम को भी धिक्कार, इस स्त्री को धिक्कार और मुझ को धिक्कार । इसी आशय का एक श्लोक भर्तृहरि शतक में हैं ।

राजा को विक्रमादित्य की बातों का स्मरण हुआ । वे विक्रमादित्यके आचरणों को और उनकी शुद्धता, धार्मिकता को स्मरण कर व्याकुल हो गये । उस निर्दोष पर जो अत्याचार राजा ने किये थे वह एक-एक कर राजा के सामने आने लगे और उनसे राजाका दुःख बढ़ने लगा । उन्हों ने अपने को बहुत धिक्कारा । दुराचारिणी स्त्री के लिये सदाचारी भाई को देश निकालने की बात सोच कर राजा मूर्च्छित होगये । मूर्च्छा टूटने पर वे सन्यास लेने की तैयारी करने लगे । इस प्रकार राजा पश्चात्ताप कर रहे थे कि वहीं दीवान सेनापति आदि आगये । उन लोगों ने राजत्याग कर वन में न जाने की सम्मति दी और सम्मति मानने का अनुरोध भी किया । पर, राजाने किसी की बात न सुनी । राजाने कहा—इस मायामय संसारमें कौन किसका है । कोई भी सत्य वस्तु दिखायी नहीं पड़ती । राजा झूठा, राज्य झूठा, स्त्री झूठी. स्त्री का प्रेम झूठा, और भी जो पदार्थ दिखायी पड़ते हैं वे सब झूठे हैं । इस संसार में ऐसी कोई निर्भय वस्तु मैं ढूँढ़ना चाहता हूँ जिसका आश्रय लूँ । भोग में रोग का भय है, कुल

में भ्रष्ट होने का भय है, द्रव्य में नाश का भय है, प्रतिष्ठा में दीनता का भय, बल में शत्रु का भय, रूप में स्त्री का भय, गुण में खल का भय और शरीर को काल का भय। इसप्रकार सभी वस्तु भय युक्त हैं। पर, इस संसार में भी यदि कोई भय शून्य वस्तु है तो वह वैराग्य ही है। मैंने उसी का आश्रय ग्रहण करने का निश्चय किया है। उसी का आश्रय लेने के लिये गंगातीर भवनमें जाऊँगा। वहाँ किसी महात्मासे उपदेश ग्रहण करूँगा जिससे इस संसार के बखेड़े से मुक्ति मिले। गुरु कृपा से यह कुछ असाध्य नहीं है। वैराग्य से बढ़ कर कोई भाग्य नहीं, ज्ञान से बढ़कर कोई मित्र नहीं, विद्या से बढ़ कर कोई रक्षक नहीं और संसार से बढ़ कर कोई शत्रु नहीं। राजा के निश्चय के सामने मन्त्रियों का समझाना बुझाना सभी व्यर्थ गया। अपने निश्चय के अनुसार राजवेश उतार कर संन्यासी वेश धारण कर वे वन में चले गये।

यह खबर बिजली के समान समस्त शहरों में और पुनः समस्त राज्य में फैल गयी। इस खबर से लोग बहुत दुःखी हुए। श्रीरामचन्द्र के वन जाने के समय जो दशा अयोध्या नगरी की हुई थी वही दशा उज्जयिनी नगरी की हुई। प्रजा नगर से बाहर आकर राजा भर्तृहरि को ढूँढ़ने लगी और उनके शोक में विलाप करने लगी। रनिवास में हाहाकार मच गया। पापिनी पिंगला भी इस काण्ड का मूल अपने को समझ कर पछाड़ खा-खा कर रोने लगी। बड़े कठिन हृदय वाले मनुष्य रो पड़े। नगरनिवासी गाँव से बड़ी दूर तक चले

गये। पर मन्त्रियोंके समझानेसे वे लौट आये। प्रधान सचिव ने विक्रमादित्य को ढूँढ़ने के लिये दूत भेजा।

योगी का वेश बनाकर राजा भर्तृहरि अकेले वन में चलते चलते एक सघन वन में जहाँ मत्स्येन्द्रनाथ का आश्रम था पहुँचे। उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ को प्रणाम किया। गुरु गोरख नाथ ने इनके वैराग्य की परीक्षा ली। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने राजा के वैराग्य की और परीक्षा लेने के लिये उन्हें अपने दो शिष्यों के साथ रानियों से भिक्षा माँगने के लिये भेजा। गुरु की आज्ञा के अनुसार राजा रानियों से भिक्षा माँग ले गये। रानियों से भिक्षा माँगने के समय इनमें बहुत कथोप-कथन हुआ पर राजा अटल रहे। इस प्रकार कई तरह की परीक्षाओं से जब गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को राजा के दृढ़ वैराग्य का निश्चय हो गया तब उन्होंने मन्त्रोपदेश किया। और भी बहुत सी ज्ञान की बातें उन्होंने बतलायीं।

गुरु ने कहा—इस जगत् की माया अनादिकाल से चली आ रही है। यह समस्त संसार बाजीगर के तमाशे के समान है। संसार के ये पदार्थ जिन्हें तुम देख रहे हो सब झूठे हैं। ये चौदहों ब्रह्माण्ड नाशवान हैं। यह शरीर पंचमहाभूत से बना है। अतएव यह क्षणभंगुर है और विकारी है। इनमें सार वस्तु क्या है इसका विचार करना चाहिये। मनको वश में करना चाहिये। जिसमें इन नाशवान पदार्थों में मनकी आशक्ति न रहे। यह शरीर हजार वर्ष रहे चाहे लाख वर्ष इससे क्या हो सकता है। चौदहों भुवनों का राज्य यदि

मिल जाय तो इससे क्या लाभ क्योंकि अन्त में इन सब का नाश होने वाला है। ये सब कार्य स्वार्थ पूर्ण हैं। इन्द्रियों के लिये कल्पित सुखमात्र हैं। जो वस्तु प्रिय है वह सत्य नहीं। यदि होती तो उसे साथ चलना चाहिये। यही बात मनुष्य के लिये भी है। प्रिय से प्रिय भी मनुष्य मरण के समय साथ नहीं देता। इस जगत् में निःस्वार्थ सच्चा प्रेमी कोई भी नहीं है, पर इस क्षणभंगुर शरीर से त्रिकाल बाधित सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है। इसलिये जब तक यह शरीर है तब तक उन्हीं साधनों को एकत्रित करना चाहिये जिससे सच्चिदानन्द की प्राप्ति हो। भर्तृहरि ने कहा—महाराज किस वस्तु में मन लगाया जाय जिससे उसकी चंचलता नष्ट हो। यह सुनकर गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा-देख, बच्चा! अलख निरंजन का तुम्हें मन्त्र दिया है उसी में तुम अपना मन लगाओ।

राजा भर्तृहरि गुरु के उपदेश से योगाभ्यास करने लगे। योग सिद्ध होने पर योगीन्द्र भर्तृहरि नें उज्जैन के पास एक गुफा बनायी। वहाँ भी उन्होंने कुछ दिनों तक योगाभ्यास किया। योग सिद्धि के परिपक्व होने पर इन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभव किया।

भर्तृहरि उस समय एक प्रसिद्ध योगी और जीवन्मुक्त समझे जाते थे। उज्जैन के समीप आज भी एक गुफा भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध है। काठियावाड़ के प्रभासपाटन में सोमेश्वर महादेव हैं। वहाँ से सात, आठ मील पर गोरख

र्वा नामक एक गाँव है। भर्तृहरि ने वहाँ गुरु गोरख नाथ के पास रह कर योगाभ्यास किया था। योगीन्द्र भर्तृहरि अमर हैं और इस समय भी वर्तमान हैं ऐसी भी प्रसिद्धि है।

शतकत्रय नाम का एक संस्कृत ग्रंथ भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें नीति, शृंगार और वैराग्य तीन भाग हैं। राजा भर्तृहरि के बनाये श्लोकों का इनमें संग्रह है। श्लोक बड़े ही मधुर और लाभप्रद हैं। राजा भर्तृहरि विद्वान् और भाग्यवान थे। उन पर भगवान् की कृपा थी जिससे कीचड़ में फँस कर भी ये निकल आये। दुःख होता है उन लोगों को देख कर जो कीचड़ से एकबार निकलने पर भी उसमें फँसने की कोशिश करते हैं। भगवान ऐसे मनुष्यों की रक्षा करें।

बू. कैलासनाथ भार्गव द्वारा भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन, बनारस में मुद्रित।

स्त्री शिक्षा कितनी आवश्यक वस्तु है; यह कहनेकी आवश्य-
कता नहीं। विशेष कर इस युग में माताओं और बहिनों को
अशिक्षित रखकर हम जीवनमें आगे बढ़ही नहीं सकते। परन्तु
उन्हें किस प्रकार सुगमतासे शिक्षा दीजाय इस प्रश्नसे बड़े-बड़ों
के दिमाग चकराते हैं। इसी प्रश्न को, हल करने के लिये यह
स्त्री-भूषण नामका पुस्तक बड़े परिश्रमसे लिखी गई है। वर्तमान
सामाजिक और आर्थिक अवस्था स्त्री-शिक्षामें बहुत बड़ी बाधक
है। परन्तु इस पुस्तक के सामने ये कठिनाइयाँ पेश नहीं आ
सकतीं। थोड़ीसी साधारण हिन्दी जाननेवाली स्त्रियाँभी इसके
द्वारा अधिक ज्ञान सुगमतासे प्राप्त कर सकती हैं।

पुस्तकमें स्त्री-जीवनोपयोगी सभी बातोंका समावेश किया
गयाहै और वह ब्रह्मचर्य-जीवन, दाम्पत्य-जीवन, मातृ-जीवन तीन
खण्डोंमें समाप्त हुईहै। पाकविधि, सिलाई स्वास्थ्यरक्षा आदि
के सिवा इतिहास, धर्म, समाज, साहित्य आदि विषयों का भी
ज्ञान कराने का प्रयत्न किया गया है। दाम्पत्य-जीवन और
मातृ-जीवन तो बिल्कुल नये ढंग से लिखा गया है। पृष्ठ सं०
लगभग ६५०। मूल्य २॥)

मिलने का पता—

भार्गव पुस्तकालय बनारस